प्रकाशकीय वक्तव्य

श्रीमान् बड़ौदा-नरेश स्वर्गीय सर सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बंबई सम्मेलन मे स्वयं उपस्थित होकर पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी। उस सहायता से सम्मेलन ने 'सुलभ-साहित्य-माला' संचालित कर कई सुंदर पुस्तकों का प्रकाशन किया है। प्रस्तुत पुस्तक भी उसी ग्रंथमाला के अंतर्गत प्रकाशित हो रही है।

साहित्य-मंत्री

प्रथम संस्करण : ५०० : मूल्य ३॥)

सम्मान्य

श्री० अमरनाथ झा जी को

सादर समर्पित

सूची-पत्र

विज्ञप्ति

यह पुस्तक भी मेरी पहली पुस्तक की ही भाँति विभिन्न समयों में लिखे गए मेरे निबन्धों का संग्रह है। महत्त्वाकांक्षावश मैंने इसका नाम 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' रख दिया है। यह शताब्दी ईसा की है, विक्रम की नहीं, अभी इसके चालीस-बयालीस वर्ष ही व्यतीत हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन चालीस वर्षों के ही कुछ प्रमुख साहित्यिक व्यक्तित्वों का उल्लेख किया गया है। इस समय के सभी प्रमुख साहित्यकार पुस्तक में नहीं आ सके हैं, पर मुझे सन्तोष है कि जितने आये हैं उतने ही इस काल के साहित्य के स्वरूप, उसकी समृद्धि-सीमा और उसकी विकास-दिशा को दिखा देने के लिए पर्याप्त हैं। छूटे हुओं में आचार्य श्यामसुन्दरदास, 'कविसम्राट्' अयोध्यासिंह उपाध्याय और हरिवंशराय 'बच्चन' के नाम सब से पहले ध्यान में आते हैं। बाबू साहब ने समीक्षा-सम्बन्धी प्रथम ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' लिखा था जिसके टक्कर की दूसरी पुस्तक अब भी प्रकाशित नहीं हुई। निःस्वार्थ और सङ्घटित साहित्य-सेवा के कार्य में आपका नाम प्रथम गण्य है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा आप के ही उद्योगों का स्मारक है। शैली-निर्माण के कार्य में भी आप का महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु आप के सम्बन्ध में एकदम तटस्थ दृष्टि रखकर लिख सकना मेरे लिए सम्भव न था। इसी प्रकार उपाध्यायजी का 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी का अनूठा और युगप्रवर्तक काव्य है। उसके सजीव और सहज उन्मेष की समता उस युग की कोई रचना नहीं करती। उनकी अन्य कृतियों से भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार और आचार्यत्व सिद्ध होता है, किन्तु काव्यदृष्टि से उन कृतियों की आलोचना करना मेरे लिए कठिन था। इसीलिए हमें तत्कालीन काव्यजगत् के एक प्रधान ज्योतिस्तम्भ को छोड़ देना पड़ा। 'बच्चन' जी के सम्बन्ध में यहाँ अधिक कहना उचित न होगा। नई भाषा, नई अभिव्यंजना और नये क़िस्म की अनुभूति—उनका सब कुछ नया ही नया है। भाषा और अभिव्यंजना

पर लिखने मे हमे कोई दिक्कत न थी, पर प्रश्न अनुभूतियो का था। निराशा और पराजय से आक्रान्त ये अनुभूतियाँ हमारे साहित्य में कौन सा स्थान ग्रहण करेंगी, उच्च साहित्य जो सदैव हमारे अबाध और अपराजित जीवन का संगीत है, इन विकृत स्वरो का कितना सम्मान करेगा, यही विचारणीय है। बच्चन जी की ख्याति और उनकी अनास्थामयी काव्यरागिनी के बीच इतनी गहरी खाई है कि सहसा कोई सम्मति देने का साहस नहीं होता। बच्चन की आरम्भिक रचनाएँ हमारे देखते-देखते कालकवलित हो चली हैं, या वे कवि-सम्मेलनों के श्रोताओं के मनोविनोद के लिए ही रह गई हैं। किन्तु उनकी कुछ रचनाएँ हिन्दी साहित्य में स्थायित्व ग्रहण करने की भी सूचना देती हैं। वे रचनाएँ कौन सी हैं और उनके स्थायित्व का हेतु और आधार क्या है, इस पर हम फिर कभी विचार करेंगे। अभी बच्चन एकदम ठहर नहीं गए हैं, न उनकी रचनाओं पर हिन्दी-जगत् की प्रतिक्रिया ही पूरी हुई है। अभी समय भी है, हम प्रतीक्षा कर सकते हैं।

श्री० 'उग्र' भी प्रथम श्रेणी के ही लेखक हैं जिनका परिचय हम इस पुस्तक में नहीं दे सके।

इन चार के अतिरिक्त और भी व्यक्तित्व हैं जो बिल्कुल प्रथम श्रेणी के न सही, उसके अत्यन्त निकट अवश्य हैं और बहुतों की सम्मति में प्रथम श्रेणी का कार्य कर चुके हैं। इनमें से कुछ तो अब भी काम में लगे हुए हैं। स्वर्गगतों में श्री० पद्मसिंह शर्मा और जीवितों में श्री० भगवतीचरण ऐसे ही दो व्यक्तित्व हैं। शर्माजी ने अपने कार्य का मुख्य आधार 'बिहारी' को बनाया, इससे उनके सम्बन्ध मे भ्रम हो जाता है कि वे भी शृङ्गारिक परम्परा के ही आलोचक थे। किन्तु वे समीक्षक थे शब्द और अर्थ के, शृङ्गारिकता मे उनका सम्बन्ध न था। वे अभिव्यजना-परीक्षा के आचार्य थे, शब्दगत और अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा अबाध प्रवेश था, हिन्दी में किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया। इस अभाव के कारण हिन्दी की कुछ कम हानि नहीं हुई है। अपने विशेष प्रकार के सम्पर्कों के कारण मैं शर्माजी के सम्बन्ध में निष्पक्ष धारणा उनके जीवनकाल में नहीं बना पाया, किन्तु स्वतन्त्र अध्ययन का अवसर मिलने पर उनका महत्त्व समझ सका। शर्माजी की आलोचना पुरानी रसालङ्कार शैली पर नहीं चली

है, उसमें नवीनता और शर्माजी का निजत्व है। शर्माजी की भाषाशैली मार्मिक प्रभाव रखती है। उसमे कहीं भी बनावट और बोझ नहीं है। श्री० भगवतीचरण वर्मा की रचनाओ मे बराबर परिवर्तन होता जा रहा है और प्रौढता बढ रही है। उनका व्यक्तित्व दो स्वरूपों वाला है—एक तो मादकता और ख़ुमारी से भरा और दूसरा वास्तविक विद्रोही। इन दोनो का पृथक्करण हो जाने पर स्वस्थ विद्रोह की परिचायक उनकी रचनाओं में नवीन कला और नई सृष्टि के दर्शन होते हैं। यह पृथक्करण वर्मा जी में अभी बहुत कुछ विरल अवश्य है। ये दोनो महानुभाव भी मेरी पुस्तक में सम्मिलित नहीं किये जा सके।

श्री० बालकृष्ण शर्मा, श्री० 'भारतीय आत्मा' और श्री० 'दिनकर' वीररस के स्वदेशप्रेमी कवि हैं। इनका भी हमारे साहित्य मे सम्मानित स्थान है। शर्माजी की भावुकता और उनकी काव्यशक्ति के बीच उच्च कोटि का सामञ्जस्य थोडी ही रचनाओ में मिलता है। प्रारम्भ मे उनकी कविता सूक्तिप्रधान थी, अब सङ्गीतप्रधान हो गई है। सूक्ति और सङ्गीत काव्य के अलंकरण हैं, वे स्वतः काव्य नहीं हैं। शर्माजी का पीछा इन अलङ्करणों से कभी नहीं छूटा, इसलिए उनका काव्य अभिव्यंजना-प्रधान ही रहा। जब और जहाँ कहीं अभिव्यंजना की प्रमुखता कम हुई, शर्माजी का काव्य और भी नीरस हो गया। उदाहरण के लिए उनका 'उर्मिला' आख्यान। किन्तु इन शिकंजों से छूटी हुई उनकी कुछ महत्तर रचनाएँ भी है जो उन्हें सच्चे कवि के आसन पर बैठा देती हैं। 'भारतीय आत्मा' का काव्य व्यवस्थित रूप में प्रकाशित होकर हमारे सामने नहीं आया। यह उनके और उनसे भी अधिक हिन्दी ससार के लिये दुर्भाग्य की बात हुई।* 'भारतीय आत्मा' केवल कवि ही नहीं हैं, अपने प्रान्त के नवयुवक कवियों के आराध्य भी हैं। इससे उनके व्यापक प्रभाव और प्रेरक व्यक्तित्व का पता लगता है। बालकृष्ण शर्मा की अपेक्षा 'भारतीय आत्मा' और भी अधिक भावुक और सूक्तिप्रिय हैं। उन्हें हिन्दी में उर्दू काव्य-शैली का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। आश्चर्य यह है कि उनका विकास स्वतन्त्र और उर्दू की सङ्गति से अछूता है। इसलिए उन्होने हिन्दी में जो अपना

*हाल में उनका एक संग्रह 'हिमकिरीटिनी' प्रकाशित हुआ है—लेखक

विशेष शैली प्रवर्तित की उसका और भी अधिक महत्व है। स्मरण रखना चाहिए कि 'भारतीय आत्मा' में उर्दू कवियों की सी शृङ्गारिकता भी नहीं है। किन्तु उनके मुक्तकों का निर्माण और तैयारी टकसाली उर्दू कवियों की सी है। 'भारतीय आत्मा' को मैंने सूक्ति-प्रधान कवि कहा है। उनकी सूक्तियों में उपदेशात्मकता कारण नहीं है, भावना का अतिरेक ही कारण है। इसलिए उनके मुक्तकों में प्रगीतात्मक सौष्ठव भी रहता है, जो साधारणतः सूक्तिप्रिय कवियों में नहीं देखा जाता। यही बात 'नवीन' जी के सम्बन्ध में भी लागू होती है। रामधारी सिंह 'दिनकर' का काव्य इन दोनों से बहुत पीछे का है, किन्तु परिमाण में और काव्य-प्रकर्ष में भी कदाचित् उनसे आगे बढ़ गया है। यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि कवि 'नवीन' और माखनलाल देश-सेवा के व्यावहारिक कार्य और उस से उत्पन्न होनेवाली अशान्तियों में व्यस्त रहते हैं, जब कि 'दिनकर' का रास्ता अधिक सुगम और निरापद है। मैं इन तीनों का समावेश भी अपनी पुस्तक में नहीं कर सका।

इनसे भी आगे बढ़िए तो कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिन्होंने समय को देखते हुए नवीन कार्य किया है और जिनकी कुछ कृतियाँ साहित्य में स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हैं, किन्तु पर्याप्त साधना और सृजनशक्ति के अभाव में वे अपने कार्य से विरत हो गए हैं अथवा दूसरे प्रकार के साहित्यिक प्रयोग करने लगे हैं। 'प्रयोगवादी' साहित्यिकों के सम्बन्ध में मेरी धारणा कभी बहुत ऊँची नहीं रही। 'प्रयोग' शब्द में ही एक प्रकार की कृत्रिमता और अभ्यास की व्यञ्जना है। यह अभ्यास श्रेष्ठ साहित्य का उद्भावक मेरी निगाह में कभी नहीं रहा। प्रयोग के द्वारा कलापूर्ण और बुद्धिपूर्ण साहित्य का निर्माण हो सकता है, भावपूर्ण और जीवनप्रद साहित्य का नहीं। किन्तु ऐसे निर्माताओं का भी हिन्दी जैसे विस्तृत और अभ्युदयशील साहित्य में स्थान है। डॉ० पदुमलाल बख्शी और डॉ० रामकुमार वर्मा के नाम यहाँ स्मरण किये जा सकते हैं। यह मेरी अन्तिम श्रेणी है। और भी कुछ नाम हैं जिन्हें गिनाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इन दोनों का विवरण भी मैं इस पुस्तक में नहीं दे सका।

इन सबसे भिन्न और इनमें से कितनों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण नाम डॉ० इलाचन्द्र जोशी का है। जोशी जी का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में एकदम निराला

है। अध्ययन और अनुभव की दोहरी ज्योति से उनकी रचनाएँ दीपित हैं। उनके काव्य में पहाड़ी झरने का स्वर और प्रवाह है, उनकी शैली मे उसी का प्रवेग है उनके गद्य-लेखो में और विशेषकर उनकी साहित्यिक आलोचनाओं में एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण है। उनकी रचनाओं पर उन्नीसवी शताब्दी के फ्रान्सीसी यथार्थवादियो का प्रभाव पड़ा है। उनका उपन्यास 'सन्यासी' यथार्थवादी शैली की प्रमुख विश्लेषणात्मक कृति हिन्दी में है। किन्तु उनकी रचनाएँ इतनी देर से प्रकाशित हुई कि मेरी पुस्तक, प्रस्तुत संस्करण में, उनके विस्तृत विवेचन से वंचित ही रही।

समय के पीछे भी कुछ मनोहर रचनाएँ उपस्थित की गई हैं, किन्तु उनके निर्माण मे मौलिक रचना का स्वातन्त्र्य और अनिवार्यता नही है। प्रेमचद के उपन्यासों को लीजिए और उनकी तुलना कौशिक, सुदर्शन या श्री० चतुरसेन की कृतियो से कर देखिए। और तो और, श्री० वृन्दावनलाल वर्मा या श्री० सियारामशरण के उपन्यासो को ही उनके सामने ला रखिए जिनकी प्रेरणाएँ बहुत कुछ स्वतन्त्र भी हैं, किन्तु केवल समय की दौड़ में पिछड़ी हुई हैं। आप यहीं स्रष्टा और अनुगामी का अन्तर समझ लेंगे और काल के कठोर न्याय का अनुभव कर सकेंगे। परवर्ती रचनाएँ एक तो समय का प्राथमिक और जाग्रत संस्पर्श न पाकर बासी हो गई हैं और दूसरे रचयिता का अछूता हृदय स्पन्दन न प्राप्त कर म्लान बनी हुई हैं। वे बनाव शृंगार और निर्माण की सुघरता में मौलिक कृतियों को भी मात कर सकती हैं। किन्तु साहित्य की रङ्गभूमि में उतना ऊँचा पद किसी प्रकार नहीं पा सकतीं। काव्य में श्री० गुरुभक्त सिंह और रूपकों में श्री० गोविन्ददास जी की रचनाएँ किसी हद तक इसी श्रेणी की हैं। किन्तु जितने अंशो में ये लेखक और कवि अपनी रचनाओं को परप्रभाव से मुक्त रख सके हैं, उतने अंशों में नवीनता का आनन्द भी देते ही हैं। इन परवर्ती लेखकों का उल्लेख भी मैं अपनी पुस्तक मे नहीं कर सका।

तीन और नाम छूट गये हैं जिनका छूटना साहित्य की किसी भी विवरण-पुस्तक में उचित न होता। वे नाम हैं श्री० सनेही, श्री० रामनरेश त्रिपाठी और श्री० गोपालशरण-सिंह के। ये तीनों ही 'द्विवेदी युग' और 'प्रसाद युग' के बीच की कड़ियाँ हैं और इस

दृष्टि से महत्वपूर्ण भी हैं। इनकी रचना में दोनो युगों के स्मारक-चिह्न मिलते हैं। किन्तु मेरी यह पुस्तक इन विवरणों मे नहीं जा सकी है।

मेरी अंतिम क्षमा-याचना नई पौद के उन लेखकों के प्रति है जिनके नाम भी इस पुस्तक में नहीं आ सके है। श्री० अश्क, श्री० अज्ञेय, श्री० रामविलास शर्मा और श्री० नरोत्तमप्रसाद आदि इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। नरोत्तम के 'एक मातावृत' पर, जो गाँधी जी को लेकर की गई नई विश्लेषणात्मक रचना है, मैंने अपने विचार कुछ दिन पहले प्रकाशित भी किये थे, पर उस लेख को पुस्तक मे स्थान नहीं दिया जा सका। अभी इस वर्ग के लेखक अपने सुस्पष्ट व्यक्तित्व और कला का विकास नहीं कर सके हैं, इसलिए उन पर विचार करना न तो उनके लिए ही न्याय होता न पुस्तक के लिए ही, फिर भी उनकी आंशिक चर्चा आगे इस विज्ञप्ति में की गई है।

अब यहाँ उन लेखकों और कवियों के सम्बन्ध मे कुछ कहना आवश्यक है जिनके व्यक्तित्वों और कृतियों का इन निबन्धों मे उल्लेख किया गया है। सबसे प्रथम नाम श्री० महावीरप्रसाद द्विवेदी का है जिनसे इस शताब्दी का साहित्यिक कार्य आरम्भ होता है। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व मूलतः सुधारक और प्रवर्तक का व्यक्तित्व है। उन्होंने समस्त प्राचीन को ताख पर रख कर नवीन अभ्यास और नये अनुभवों का रास्ता पकड़ा। हिन्दी की किसी भी प्राचीन परम्परा के वे क़ायल न थे। संस्कृत से उनका प्रेम अवश्य था, पर वह भी उतना ही जितना नवीन हिन्दी को स्वरूप देने के लिए आवश्यक था। इसीलिए द्विवेदीजी की शैली में सम्पूर्ण नवीनता के दर्शन होते हैं, उतनी नवीनता जितनी उनके पीछे आने वाले रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रशस्त लेखकों में भी नहीं दिखाई देती। नवीन निर्माण का नेतृत्व करने वाले द्विवेदीजी के यह उपयुक्त ही था। नवनिर्माण का कार्य हाथ में लेकर पहले उन्होंने भाषा और व्याकरण की नींव मजबूत की। इस कार्य को उन्होंने स्वतः किया और अपनी 'स्कीम' के अनुसार उन्होंने दूसरों के हाथ दूसरे काम दिये। द्विवेदी जी का यह नवीन साहित्य-भवन किन सामग्रियों से बना है और कैसा बन पाया है, इसीकी चर्चा मेरे निबन्ध में की गई है।

अक्सर कहा जाता है कि यह नवीन भवन विदेशों की नकल पर बना है। इसमें

न थे। चतुर्थ यह कि संयोगवश उच्च कोटि की काव्य-प्रतिभा वाले व्यक्तित्व थोड़े थे।

इन व्यक्तित्वों में भी कुछ न कुछ अन्तर है ही। मैथिलीशरण में भारतीय भक्त-परम्परा का प्रभाव होने के कारण भावुकता और आराधनात्मक प्रवृत्ति अधिक है। शुक्लजी में पाश्चात्य बुद्धि-वादियों का असर अधिक है। प्रेमचन्द जी का रङ्ग-ढङ्ग मुंशियाना है, उर्दू का प्रभाव लिए हुए।

मैंने अपने निबन्धों में इन तीनों के साहित्यिक व्यक्तित्व को विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसलिए एक-एक के सम्बन्ध में दो-दो और तीन-तीन लेख लिखने पड़े हैं। मैंने इस भ्रम से बराबर बचने और पाठकों को बचाने की चेष्टा की है कि उच्च आदर्शों के प्रति आसक्ति दिखाना ही उच्च साहित्य की सृष्टि करना है। यह बात मैथिलीशरण जी की विवेचना करते हुए सामने रक्खी गई है। ऊँचे से ऊँचे दार्शनिक वाद या सिद्धान्त की भी काव्य-विवेचन में एक सीमा है जिसके आगे वह नहीं जा सकता, यह शुक्लजी के विवेचन में दिखाया गया है। प्रेमचन्दजी के विवेचन में मैंने उनके कला-निर्माण और उनके स्थूल बुद्धिवाद की खामियाँ दिखाई हैं।

काव्य का महत्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का निरूपण बाह्य, स्थूल व्यापार या शुष्क बौद्धिक संस्कार और आदर्श योजना ही स्वयं में कर सकते हैं।

द्विवेदी-युग के साहित्य को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऊँचे से ऊँचे आदर्श भी स्वतः काव्य के निर्माण में सब समय सहायक नहीं होते। यह बात साहित्य के अन्य अङ्गों के सम्बन्ध में उतनी चरितार्थ चाहे न हो, पर काव्य के सम्बन्ध

में पूरी तरह लागू होती है। द्विवेदी-युग की बौद्धिकता और नीतिमत्ता सृजनात्मक मन के समस्त द्वारो का उद्घाटन न कर सकी, काव्य-विकास के बहुत से कपाट अवरुद्ध ही रहे। एक कपाट खोलने का उपक्रम श्री० श्रीधर पाठक के प्राकृतिक वर्णनो और उनके अङ्गरेज़ी के अनुवादो ने किया। दूसरा कपाट प्रसादजी के प्रयत्नो द्वारा खुला।

प्रसादजी का साहित्य और विशेषकर उनका काव्य किन्हीं भी नीतिवादी या उपयोगितावादी तुलाओं पर नहीं तौला जा सकता। प्रसादजी का काव्य उनके व्यक्तित्व का विकास है। उस काव्य की बाह्य कारीगरी और अन्तरङ्गानुभूति प्रसादजी की जीवनी के साथ ही प्रौढतर होती गई है। किसी प्रकार का बुद्धिवादी प्रतिबन्ध न रहने के कारण प्रसादजी का काव्य-विकास निर्बाध और स्वच्छन्द गति से, तथा बहु-मुखी साहित्यिक सृष्टियो में हो पाया। द्विवेदी-युग ने उनकी परवाह नहीं की, भरसक उन्हें दबाया ही, पर उन समस्त दबावों की अवमानना कर प्रसादजी का साहित्य आज जिस रूप में हमारे संमुख मौजूद है, अपनी महत्ता का प्रमाण आप ही देता है।

समय और समाज की आवश्यकता के आधार पर भी प्रसादजी का साहित्य नहीं आँका जा सकता। उसकी मुख्य विशेषता है जीवन की बहुरूपता का चित्रण। वैदिक युग, पौराणिक युग, प्रारम्भिक इतिहासयुग, मौर्ययुग. शुङ्गयुग, गुप्तयुग, मध्ययुग और आधुनिकयुग, सभी के पात्रों और परिस्थितियों का अङ्कन प्रसादजी ने किया है। नारी, पुरुष, वृद्ध, बालक, राजा, रईस, अमीर, गरीब; भले, बुरे, छोटे, बड़े; कोई भी छूटे नहीं है। जय-पराजय, विनय-उद्दडता, आत्मगर्व-आत्मग्लानि, रूपगर्व-रूपनिन्दा शतशः जीवन-प्रसङ्गों और भावो की अभिव्यक्ति उन्होंने की है। संक्षेप में प्रसादजी अपने समसामयिक कवि रवीन्द्रनाथ की ही भाँति बहुमुखी जीवन के कवि हैं। प्रेमचन्द में इतना विस्तार और बहुरूपता नहीं पाई जाती! वे आधुनिक जीवन तक ही सीमित हैं और उनमें वर्गगत या जातिगत चित्रण की प्रधानता है, व्यक्तिक चित्रण की नहीं।

जीवन की इस विशालता का निर्माण स्वतः एक महत् कार्य है। ऊँची साहित्यिक सृजनप्रतिभा द्वारा ही यह सम्भव है। अङ्गरेज लेखक डिकेन्स की ख्याति इसी

लिए इतनी अधिक है। किन्तु डिकेन्स में अङ्गरेज समीक्षक मध्यवर्ती जीवन-दर्शन के अभाव की शिकायत करते हैं। यहाँ डिकेन्स से प्रसादजी की तुलना नहीं की जा रही, पर इतना कहने में कोई आपत्ति नहीं कि प्रसाद के वैचित्र्यबहुल साहित्य में एक सुस्पष्ट दार्शनिक अनुबन्ध भी पाया जाता है।

प्रसाद का वह जीवन-दर्शन क्या है? वह जीवनदर्शन है विशाल और बहुमुखी जीवनानुभूति का स्वाभाविक परिणाम, रहस्यवाद। कवि रवीन्द्रनाथ का भी यही जीवन-दर्शन था। कवि प्रसाद और रवीन्द्र में सृजनात्मिका शक्ति की मात्रा और वैशिष्ट्य का अन्तर नहीं है, यह मैं नहीं कह सकता। पर यह जितना है उतने कहीं अधिक विज्ञापित किया गया है। इन दोनों कवियों का अधिक अन्तर दोनों के प्रचार को लेकर ही है।

प्रश्न किया जाता है कि अनेक युगों के अनेक पात्रों का चित्रण, उनकी अनेकविध रूपरेखा और उनका मध्यवर्ती रहस्यवाद क्या निर्दिष्ट से अनिर्दिष्ट की ओर भागना या पलायन करना नहीं है? रवि बाबू के विषय में भी यह प्रश्न किया गया है और प्रसादजी के विषय में भी—अनेक बार। किन्तु यह कोरा तर्क प्रसाद और रवीन्द्र की महती जीवन-प्रेरणाओं पर पर्दा नहीं डाल सकेगा। यह पलायन नहीं है, जीवन की वास्तविक विशालता की स्वीकृति है, वर्तमान अभावों का, वैषम्य से, इङ्गित है और उक्त विशालता के आधार पर रहस्यमय जीवन-ऐक्य की स्थापना का प्रयत्न है। इन कवियों का जीवन-दर्शन परम्परा से ग्रहीत या पढ़कर सीखा हुआ नहीं है। यह उनकी अनुभवसिद्ध जीवनभावना का परिणाम है जिसके द्वारा उनकी कलाकृतियाँ अनुप्राणित हैं।

फिर प्रश्न होता है कि ऐसा साहित्य भी किस काम का जो हमारे सामयिक जीवन और उसके प्रश्नों पर कोई प्रकाश न डालता हो। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि प्रसादजी अनावश्यक रूप से साधारण प्रेम-प्रसङ्गों को प्रच्छन्न, एकान्तिक और स्वच्छन्द रूप देते हैं। तीसरी बात यह कही जाती है कि प्रसादजी नवीन औद्योगिक जीवन और उसकी वास्तविकता से अपने अन्तिम काव्य 'कामायनी' में भी दूर ही रहे। पहले प्रश्न का उत्तर यह है—उच्च साहित्य किसी भी समय असामयिक या अनुपयोगी

नहीं हो सकता। वह स्थायी संस्कृति और सौन्दर्य का उपादान है। फिर, स्थूल दृष्टि से भी, काव्य की सामयिक उपयोगिता और आवश्यकता को परखने की शक्ति भी तो हममे होनी चाहिए। दूसरे आरोप का उत्तर यह है—प्रसादजी के प्रच्छन्न प्रेम-वर्णनो मे क्रमशः उनका व्यक्तित्व उद्घाटित होता गया है और 'कामायनी' मे आकर वह पूर्णत. उद्घाटित्त हो गया है। 'कामायनी' मे किसी प्रकार की प्रच्छन्नता नहीं रह गई है। यह व्यक्तित्व का उद्घाटन स्वत. काव्य को एक अपूर्व स्वस्थता और विशालता प्रदान कर सका है। तीसरी आपत्ति का उत्तर यह है—काव्य को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर देखने से यह प्रकट होगा कि सबसे पहले प्रसादजी ने ही इस वास्तविक द्वन्द्व का निरूपण किया है। इस पर उनकी प्रतिक्रिया एकदम निषेधात्मक नहीं है। वह समझौते की सी स्थिति तक गई है। समय को देखते हुए इतना आगे कोई दूसरा कवि नहीं जा सका।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रसादजी का रहस्यवादी जीवन-दर्शन प्रच्छन्न प्रेम-वर्णनो में नहीं है, न वह नवीन वास्तविकता के निषेध में है। यदि ऐसा होता तो हम प्रसाद के काव्य और उनके व्यक्तित्व को किसी हद तक पलायनवादी कह सकते थे। किन्तु तब उसमे शक्ति की और सौन्दर्य की वह धारा न दीखती, जो दीखती है। प्रसादजी का रहस्यवाद जीवन-द्वन्द्वो की स्वीकृति और उनके परिहार मे देखा जाता है। सुख और दु.ख की विपरीत परिस्थितियो के सामञ्जस्य और सहन में देखा जाता है। अथवा वह कहीं-कहीं करुणा की विश्वव्यापिनी सत्ता के निरूपण मे देखा जाता है। प्रसादजी का रहस्यवाद वास्तविक (Positive) सत्ता है। उनका नियतिवाद और निराशावाद उनके चरम सिद्धान्त नहीं हैं। वे उनके चरम सिद्धान्त रहस्यवाद का उन्मेष करने, उसे प्रखर बनाने और अधिकाधिक शक्ति-सम्पन्न करने मे सहायक हुए हैं।

द्वन्द्वो की तीव्रता के कारण प्रसाद का साहित्य प्राणमय और उदात्त हो गया है। दोनो पक्षो का समान सौकर्य के साथ चित्रण करना (जैसा उनकी प्रौढ रचनाओं में देखा जाता है) प्रसाद के निस्संग व्यक्तित्व का सूचक है और जो बाहुल्य और प्रसार उनके काव्य मे पाया जाता है यह उनकी महती जीवनाभिलाषा का परिचायक है। इस

विशालता के साथ जो परिणति या समन्वय उन्होंने दिखाया है वह समाज और साहित्य को 'प्रसाद' का अपना प्रसाद है।

यह चर्चा यहाँ इतनी इसलिए बढ़ा दी गई है कि प्रसादजी और नवीन रहस्यवादियों के सम्बन्ध में नये और पुराने दोनों ही वर्गों के लेखकों में बहुत काफी भ्रान्ति फैली हुई है। काव्य और कला की कोई माप स्थिर न होने के कारण नये समाजशास्त्री और मनोविश्लेषक इस क्षेत्र पर मनमाने हमले कर रहे हैं और अपनी नई विद्या इस पर आज माने में लगे हुए हैं। यदि इनका लक्ष्य वास्तविक ज्ञान-विस्तार होता और ये साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत अपने-अपने विषयों की सीमा समझते हुए तटस्थ वैज्ञानिक अनुशीलन करते तो साहित्य-समीक्षकों की बहुत कुछ सहायता और साहित्य का उपकार भी कर सकते थे, पर इनका लक्ष्य तो है साहित्य-क्षेत्र पर एकछत्र आधिपत्य जमाना और साहित्य की अपनी सत्ता को मिटा देना। ऐसी अवस्था में इनसे साहित्य के किस लाभ की आशा की जाय!

छायावाद और रहस्यवाद पर इनका आक्रमण नादिरशाही ढङ्ग का है, क्योंकि हमीं से ये अधिकार छीनना चाहते हैं। 'छायावाद या पलायनवाद' यही इनका नारा है जिसके बूते ये साहित्य के एक युग विशेष को हड़प जाना चाहते हैं। इस युग के साहित्य की हरी-भरी खेती पर ये कब्र टाते फिरते हैं। भाँति-भाँति के फिक्रे निकाल कर इन्हीं अस्त्रों से केवल छायावाद और रहस्यवाद के काव्य को ही नहीं, पूर्ववर्ती सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को—हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की अमिट धारा को—मिटा देना चाहते हैं। देखें, इनकी उछल-कूद से पैदा हुई अराजकता कितने दिन टिकती है!

छायावाद युग को चाहे जिस नाम से पुकारिए, इसका एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। राष्ट्रीय इतिहास में जिन सुस्पष्ट प्रेरणाओं से यह उत्पन्न हुआ और जिस आवश्यकता की पूर्ति इसने की, उसकी ओर ध्यान न देना आश्चर्य की बात होगी। हिन्दू जाति के नाना भेदों-प्रभेदों के बीच एक सङ्घटित जातीयता का निर्माण, हिन्दू-मुस्लिम और ईसाई आदि विभिन्न धर्मानुयायियों में एक अन्तर्व्यापी मानवसूत्र का अनुसन्धान, राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच खाइयाँ पाटना—महायुद्ध के पश्चात् अपने देश क

सामने ये प्रधान प्रश्न थे। देश की स्वतन्त्रता का भी कुछ कम प्रधान प्रश्न न था। पर वह जातीय और राष्ट्रीय एकसूत्रता के आधार पर ही खड़ा हो सकता था और अन्तर्राष्ट्रीय मानवसाम्य का एक अङ्ग बन कर ही शोभा पा सकता था। यह सम्मिलन और सामञ्जस्य की भावना भारतीय संस्कृति की चिरदिन की विशेषता रही है, इसलिए महायुद्ध की शान्ति के पश्चात् ये प्रश्न सामने आते ही वह सांस्कृतिक प्रेरणा जाग उठी और तीव्र वेग से तत्कालीन काव्य और कलाओं मे अपनी अभिव्यक्ति चाहने लगी।

प्रतिकूल परिस्थितियो की प्रतिक्रिया भी हुई। कविगण उस अवरुद्ध वातावरण का उद्घाटन करने में भी प्रवृत्त हुए जो चारो ओर छाया हुआ था। प्राच्य और अधुनातन जीवन का विभेद और तज्जन्य सङ्कल्प-विकल्प तथा संशय भी नवीन साहित्य मे प्रतिबिंबित हुआ। कुछ दुर्बलहृदय व्यक्तियो पर इस परिस्थिति का अनिष्टकारी प्रभाव भी पड़ा, किन्तु ऐसे गुमराह व्यक्तियो की निःशक्त सत्ता पर हमारा इस समय का साहित्य नही ठहरा है। इसकी नींव बलिष्ठ भूमि पर रक्खी हुई है।

समृद्धि और अलङ्करण के लिए इसने विभिन्न दिशाओं मे प्रसरण किया। उपनिषदों का दिव्य दर्शन इसने अपनाया जिसमे अलौकिक ओज और प्रसार था। महात्मा बुद्ध और उनकी क्रान्तिकारिणी शिक्षाओं से भी इसने सबक सीखा। भारतीय इतिहास के समृद्धिशाली युगों का वृत्तान्त छाना। प्राचीन रहस्यवादियों और सन्तो की वाणी का भी अनुशीलन किया। अजन्ता और इलोरा, सांची और सारनाथ की प्राचीन कला सामग्री का भी अध्ययन और उपयोग किया। पाश्चात्य 'टेक्नीक' या निर्माण-कौशल भी इसमें कुछ न कुछ दिखाई दिया और पश्चिमी 'पालिश' भी लगी। उतने बड़े पैमाने पर न सही, किसी हद तक यह नया कला-आन्दोलन जो हिन्दी साहित्य मे छायावाद के नाम से प्रसिद्ध है, यूरोप के सुप्रसिद्ध 'रिनेसा' या पुनरुत्थान आन्दोलन से समानता रखता है। पर समुचित विज्ञप्ति के अभाव में इसकी पूरी प्रतिष्ठा भी नहीं हो पाई थी कि उस पर ऊपर कथित हमले शुरू हो गए। यदि आक्रमणकारियों की बात सच मानी जाय तो यह सारी कला सामग्री कोरा पलायन ही सिद्ध होगी। पर यह है क्या, इसका निर्णय तो पाठकों की स्वतन्त्र बुद्धि कर सकती है।

प्रसाद के बाद निराला और पन्त दो प्रमुख व्यक्तित्व हिन्दी मे आये। तुलसी और सूर, देव और बिहारी के बाद यह तीसरी जोडी हिन्दी मे प्रसिद्ध हुई। मेरा अपना अटकल यह है कि तुलसी और देव के प्रेमी निराला की ओर और सूर और बिहारी के प्रेमी पन्त की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। एक के काव्य मे पौरुष और पांडित्य की प्रधानता है, दूसरे के काव्य में कोमलता और कला का विकास है। दोनो की विशेषताएँ इकठ्ठी होकर इतनी समतोल सी हो गई हैं कि 'को बड़-छोट कहत अपराधू' की सी दशा आ पहुँची है।

यहाँ उस दलबन्दी की बात नहीं की जा रही जिसके फल स्वरूप हिन्दी का सारा काव्य-विवेचन चौपट होता जा रहा है और जिसके कारनामे का कुछ जिक्र ऊपर किया जा चुका है। पन्तजी को उनकी अपनी काव्यप्रतिभा से दूर हटा कर एक नकली वातावरण में घसीट लाने का श्रेय इसी दलविशेष को है। यदि इन दलबन्दियों का शीघ्र खातमा नहीं हो जाता तो पता नहीं किस कवि को कौन सा आसन कब किस आधार पर दे दिया जायगा और उस आसन के खिसकने पर उस कवि की कब कैसी दुर्गति होगी।

भ्रम यहाँ तक फैल गया है कि 'स्वच्छन्दतावाद' (Romanticism के लिए प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा आविष्कृत इस शब्द को हम यहाँ उन्हीं के अर्थ मे स्वीकार करते हैं) की प्रकृत और वास्तविक प्रेरणा से प्रकट हुई 'पल्लव', 'ज्योत्स्ना' या 'गुञ्जन' जैसी रचनाओं को शुक्लजी सरीखे समीक्षक भी हटा देते हैं और 'युगवाणी' सरीखे कोरे बुद्धि-प्रसूत पद्यों को स्वच्छन्दतावाद के अन्दर शुमार करते और प्रवर्द्धना देते हैं। काव्यात्मक परम्परा में इतने गहरे पैठे हुए समीक्षक भी जब इस प्रकार की सम्मति देते हैं तब मानना पड़ता है कि इस युग की काव्यसृष्टि के साथ किसी अशुभ ग्रह का योग अवश्य हो गया था।

यहाँ मैंने किसी विशेष युग के साहित्य की वकालत करने का बीड़ा नहीं उठाया। न साहित्य के विभिन्न युगों की सृष्टियों के बीच जो सन्तुलित आकलन या समानुपात होना चाहिए और एक ही युग के दो या अनेक कवियों के बीच उनकी यथायोग्य

साहित्यिक मर्यादा की जैसी प्रतिष्ठा होनी चाहिए, दोनो का ही वर्तमान हिन्दी मे प्राय अभाव दीखता है और यह नहीं समझ पड़ता कि व्यवस्था किस प्रकार स्थापित होगी। मैंने यहाँ जो कुछ लिखा है इसी दृष्टि से लिखा है, इसीलिए यह चर्चा कुछ विस्तृत भी हो गई है जो मुझे इष्ट न था, और शब्दो में कुछ कटुता भी आ गई है, जो एकदम ही अभिप्रेत न थी। किन्तु मेरी लाचारी देख कर और मेरा आशय समझ कर, आशा है, मुझे क्षमा किया जायगा।

द्विवेदीकालीन राष्ट्रीयतावाद और छायावादी मानवऐक्य की भावनाओं ने कैसी पृथक् काव्य-शैलियों को जन्म दिया इसका एक स्थूल परिचय मैथिलीशरण गुप्त, निराला और प्रसाद की देश प्रेम सम्बन्धी कविताओं का अध्ययन करने पर मिल जाता है। मैथिलीशरणजी की 'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है' वाली सुन्दर कविता में देश की एक स्थूल चौहद्दी कायम करके उसी की विशेषताओं का अधिक आग्रह के साथ उल्लेख है। प्रसाद में कुछ स्थानों पर यह चौहद्दी भी है, पर अधिकतर ऐसे वर्णन हैं—'उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा, अरुण यह मधुमय देश हमारा' जिन्हें कोई भी देशप्रेमी अपने देश के सम्बन्ध मे गा सकता है। उनका सम्बन्ध किसी देश विशेष से नहीं है। और निरालाजी के 'भारति जय विजय करे' गीत को देखिए तो प्रकट होगा कि इसमें और भी प्रादेशिकता का अभाव है। 'तरु तृण वन लता वसन, अञ्चल मे खचित सुमन अथवा 'प्राण प्रणव ओंकार ध्वनित दिशाएँ उदार' आदि पंक्तियाँ प्राकृतिक और ज्ञानजन्य मानवऐक्य का निर्देश करती हैं, वे स्थूल देश-प्रेम से दूर जा पड़ी हैं। गुप्तजी की सारी रचनाएँ राष्ट्रीय और माननीय आदर्शों पर आधारित होती हुई भी आराधनात्मक ही रहीं जब कि परवर्ती रचनाएँ जीवन की वास्तविक सीमा के अंतर्गत आ गई। यदि विश्वविद्यालयों की डाक्टरेट डिग्रियों के प्रयासी अपने स्थूल विभाजनों और वर्गीकरणों मे इतने मोटे भेद भी दे दिया करें तो काव्य-विवेचन एक क़दम आगे बढ जाय और काव्य की ऐतिहासिक तथा कलात्मक परीक्षा में, जो और आगे की श्रेणियाँ हैं, कुछ अधिक सहायता मिले। मेरा उनसे निवेदन है कि वे इस ओर ध्यान दें।

निराला और पंत की काव्यगत विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। मूल पुस्तक में उनका विवरण दिया गया है। यहाँ केवल इतना कहना आवश्यक है कि साहित्य के इतिहास में नवीन क्रान्ति और प्रवर्तन का कार्य इन दोनों ने किया। काव्य के केवल बाह्य स्वरूप (छन्द, भाषा आदि) में नहीं, अन्तर बाह्य दोनों में (नवीन भावना-कल्पना, नव्य जीवन दर्शन और नव-निर्माण में भी) सुस्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया। इनके अतिरिक्त कवियों और लेखकों का एक वृहत् समुदाय (इतना बड़ा जितना हिन्दी के इतिहास में शायद ही कभी देखा गया हो, जिस समुदाय के सब व्यक्तियों के नाम गिनाना यहाँ असम्भव है, किन्तु जिनमें से बहुतों के व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में अपनी छाप छोड़ चुके हैं) इस स्वच्छन्दतावादी कला-आन्दोलन में सम्मिलित हुआ।

सन् १९२० से ३५ तक इस आन्दोलन की विकासावस्था थी। इस समय तक वह अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा कर चुका था। 'कामायनी' काव्य का निर्माण इस उत्थान की पूर्णता का प्रतीक है। निराला का विद्रोह समाप्त हो रहा था, 'गीतिका' में वे सजीव और आभरणयुक्त रचना करने लगे थे। 'गीतिका' के चित्रों में सफाई और काट-छाँट प्रौढ़ता की सीमा पर पहुँच गई थी और इस दिशा में अधिक आगे बढ़ने को स्थान न था। 'पल्लव' के पश्चात् पन्तजी का 'गुञ्जन' प्रकाशित हुआ जिसमें उनके कथनानुसार सरगम के 'सा' से (जिसका प्रयोग पल्लव में था) आगे बढ़ कर 'रे' के स्वर का सन्धान किया गया था। किन्तु 'सा' के सार्थक प्रयोग के सामने 'रे' की बहुत कुछ निरर्थक पाद-पूर्ति मेरी दृष्टि में कविता को आगे नहीं बढ़ा सकी। अवश्य उसमें अभ्यास और सजावट की प्रचुरता आ गई।

एक ही अपवाद श्री० महादेवी वर्मा का काव्य है। किन्तु वर्माजी के काव्य में नूतन की उत्कट लालसा किसी समय नहीं दिखाई दी। वह सदैव स्त्रियोचित मान सज्जा और शालीनता के साथ उपस्थित हुई है। जैसे बाहरी प्रकाशन में वैसे ही भीतरी विन्यास में भी महादेवी जी की कृतियाँ सर्वांगशालिनी और परिश्रम-साध्य हैं। सर्वतन सुलभ है कहीं नहीं रही।

किसी विशेष कला-शैली के विकास मे ऐसे समय भी आते है, जब उस शैली की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी रहती है, फिर भी निर्माण-कार्य जारी रहता है। ऐसे समय मे ही उस कला-परिपाटी का ऐश्वर्य और असाधारण चमत्कार देखा जाता है। जो ऐश्वर्य और आभरण के उपासक होते हैं वे इन रचनाओ के प्रेमी हुआ करते है। उस कलायुग को साहित्यिक इतिहास मे स्थायित्व देने के लिए ऐसी रचनाएँ अपना अलग मूल्य रखती हैं, किन्तु जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है, मैं अनावश्यक ऐश्वर्य का उपासक नहीं हूँ। इसीलिए जब नवीन सरलतर रचनाएँ सामने आईं, तब मैं उनकी ओर भी झुका।

देवीजी की रचनाएँ सर्वजन-सुलभ नहीं है और उनके पीछे आनेवाली रचनाएँ सरलतर है, इन दोनों वाक्यों का प्रसग-प्राप्त अर्थ ही लेना चाहिए। इनका यह मतलब नही है कि नई कला जनसमूह या श्रमिकवर्ग की प्रतिनिधि है या उनके काम आ रही है और महादेवी जी की रचनाएँ अल्पसख्यकों की प्रतिनिधि है। इस दृष्टि से तो दोनों मे कोई विशेष अन्तर नहीं दीखेगा। यहाँ मेरा मतलब केवल काव्यशैली या अभिव्यञ्जना-सम्बन्धी भिन्नता से है। महादेवीजी की शैली में असाधारण अलकृति है, इतना ही यहाँ कहना था।

नये परिवर्तनकारी यह भी पूछ रहे हैं कि महादेवीजी की कविता किस लोक मे विचरण करती है और किस प्रियतम के पीछे पड़ी हुई है? वर्तमान जगत् और उसकी स्थितियो से उनका क्या सम्बन्ध है? काव्य और कलाओं का कुछ भी परिचय रखनेवाले आसानी से इसका उत्तर दे सकते हैं। महादेवीजी की कविता चाहे जिस लोक मे विचरण करती हो और चाहे जिस प्रियतम के पीछे पड़ी हो—उसकी ऊपरी रूपरेखा चाहे जैसी भी हो—उसमें नवीन विषम स्थितियो की प्रतिक्रिया काव्य के करुण संवेदनो के रूप में दिखाई देती है। परवर्ती कवियो के निराशामूलक सवेदनों और महादेवीजी के इन करुण सवेदनो में यदि कुछ अन्तर है तो इतना ही कि आध्यात्मिक आधार ग्रहण कर लेने के कारण उनके काव्य मे अब भी एक आस्तिकता और आश्वासन है जब कि नवीनतर काव्य अपने सारे आश्वासन खोकर नग्न निराशा और विद्रोह मे परिणत हो गया है। जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है महादेवीजी अब भी पुरानी

प्रतीकात्मक शैली पर काम कर रही है जब कि नये कवियो ने नई और स्पष्टतर शैलियाँ अपना ली हैं। कहानियो और उपन्यासो में पुरानी कल्पनाशीलता और आदर्शवादिता के स्थान पर नई वास्तविकता का प्रभाव बढ रहा है। किन्तु इस नवीन कला-शैली के सम्बन्ध मे अधिक कुछ कहने के पहले हमे पुस्तक मे आये कुछ अन्य व्यक्तिया का ज़िक्र करना होगा।

जैनेन्द्रकुमार भी मूलतः स्वच्छंदतावादी युग के ही प्रतिनिधि हैं। उनके पात्र और पात्रियाँ आदर्शवादी पद्धति पर ही गढे गये हैं। उनकी पहली रचना 'परख' मे यह पद्धति बहुत ही स्पष्ट है। किन्तु परवर्ती रचनाओं में जैनेन्द्रकुमार की तार्किक अतिवादिता उन्हें असम्भव सीमाओं तक ले गई है और उनकी कल्पनात्मक भावुकता चिन्ताप्रद हो गई है। मैंने कहा है कि यह स्वस्थ आदर्शवाद नहीं है, यह कोरी तार्किक अविवादिता आदर्शवाद की उस हद तक पहुँची है जो एकदम ऐकान्तिक ही नहीं, सामाजिक शृङ्खला की विरोधी भी है। विवेचन की दृष्टि से इसे आदर्शहीन आदर्शवाद कहा जा सकता है जो अविवादी मानसिक स्थिति का लक्षण है। अनुमान से इसे मैंने जैनेन्द्रकुमार पर जैन तर्क-प्रणाली का प्रभाव माना है जिसे वे अस्वीकार करते हैं। किन्तु उनकी अस्वीकृति-मात्र से वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता। प्रच्छन्न मन पर कितने प्रभाव पड़ते हैं इसकी गणना सचेतन मन नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में सचेतन मन के निषेध का मूल्य भी थोड़ा ही है। 'सुनीता' की आदर्शवादिता उसे नग्नता की सीमा पर पहुँचा देती है, उसका सतीत्व बाह्य व्यभिचार के रूप में प्रकट होता है! इस आदर्शवाद को समझने की शक्ति किसमें है? उनकी 'मृणाल' और 'कल्याणी' भी ऐसे ही महान् आदर्शों की उपासिका होकर ऐसे ही गहन गर्त में गिरती हैं। ऐसी अवस्था में हम इसे कोरा तार्किक आदर्शवाद न कहें तो क्या कहें?

जैनेन्द्र जी के दार्शनिक निबन्धों में भी यही अविवादी प्रवृत्ति दिखाई देती है। सामाजिक व्यवहार-भूमि पर लाकर रखिए तो उनके विचारों में बेहद काल्पनिकता झलकने लगती है। स्वयं लेखक होकर भी लेखकों और प्रकाशकों के प्रश्न पर उन्होंने जिस प्रकार लेखकों की भर्त्सना की है वह आत्महनन से बहुत दूर की वस्तु नहीं है। यही भाग

उनके अधिकाश निबन्धों मे यह रही है। ध्यान देने की बात यह है कि अत्यन्त व्यावहारिक विषयों और प्रश्नो पर उनके विचार इतने अव्यावहारिक हैं।

सब होते हुए भी जैनेन्द्रजी की रचना-शैली मे मौलिकता है। घरेलू वातावरण और भावुकतामय आदर्शवाद के कारण उनकी रचनाओ में एक अनोखा आकर्षण है। उनकी शैली में शक्ति और प्रवाह दोनों हैं और यदि आप अधिक सचेत होकर अध्ययन नहीं कर रहे हैं तो भय है कि आपको उनकी कोई त्रुटि दिखाई नहीं देगी। यह जैनेन्द्र-जी की 'टेकनीक' का ही सामर्थ्य है कि वे मृणाल-जैसी नारी के प्रति उत्कट सहानुभूति की सृष्टि करते और आदि से अन्त तक उसमे कमी नहीं आने देते। अस्पष्टता और रहस्य से काम लेते हैं। हमारी कार्य-कारण बुद्धि को सुला रखते हैं। यह उनकी शक्ति है किन्तु दूसरी दृष्टि से यही उनकी दुर्बलता भी है।

मेरे ही एक लेख पर प्रकाश डालते हुए जैनेन्द्रजी ने एक स्थान पर लिखा है कि उनकी 'पुस्तको की नायिकाएँ सब बेचारी हैं, जो हैं वही हैं, और उनमें से किसी के हाथ में जैन-आदर्श की ध्वजा नहीं है।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि आपकी नायिकाएँ बेचारी हैं तो ठीक है, उनके बेचारेपन का स्वरूप तो समझने दीजिए। पाठकों से इतना दुराव क्यों? 'जो हैं वही हैं' की अभेद्य दीवाल किस लिए? जैन-आदर्श न सही 'जैनेन्द्र-आदर्श' की ध्वजा तो उनके हाथों में है ही, उसीकी छान-बीन हो जाने दीजिए।

न मालूम क्यो जैनेन्द्रजी के अनुयायी भी उनकी रचनाओ को समीक्षा के प्रकाश मे नहीं आने देना चाहते। जिन परिस्थितियों के बीच जैनेन्द्रजी की पात्रियाँ जैसा आचरण करती हैं यदि उसमें किसी को कुछ अस्पष्टता दीखे (अस्वाभाविकता कहना तो और भी बड़ी हिमाक़त होगी) तो उसकी भी शिकायत नहीं करनी होगी! जो कुछ लिखा गया है ब्रह्मवाक्य वही है। उस पर किसी प्रकार की शङ्का उठ ही नहीं सकती, नहीं तो शङ्काकार की वह स्थिति हो जायगी जो मौसी के मुँह पर मूँछ की कल्पना करने वालों की महाराष्ट्र में हुआ करती है—बकौल प्रोफेसर माचवे। पर अपने यहाँ बिल्ली मौसी के मूँछें भी हुआ करती हैं और छोटे-छोटे बच्चे भी क्रीड़ावश उनका उपयोग किया करते हैं; इसमें अस्वाभाविकता या अनौचित्य कोई नहीं देखता।

मेरा तो विचार है कि समीक्षा की खुली हवा मे आना ही जैनेन्द्रजी की रचनाओं के लिए लाभप्रद होगा। किन्तु यह चर्चा यहीं तक।

श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी का साहित्य किसी हद तक जैनेन्द्र के साहित्य की भी अपेक्षा अधिक विवादास्पद है। जैनेन्द्र से पूर्ववर्ती होकर भी उत्तरोत्तर परिवर्तन की दृष्टि से वे उनके परवर्ती ही ठहरते हैं। इसीलिए मूल पुस्तक मे उनका उल्लेख यथास्थान करके यहाँ उनकी चर्चा जैनेन्द्रजी के बाद की जा रही है। रचना की दृष्टि से आज उनकी कहानियों और उपन्यासों में वह प्रौढता है जो किसी मँजे हुए लेखक में ही पाई जाती है। निरन्तर अभ्यास ही इस विशिष्टता का जनक है जो उन्हें हिन्दी कथाकारों की श्रेणी में ऊँचा आसन दे सका है।

भगवतीप्रसादजी की रचना के मूल में सेक्स-सम्बन्धी वही अतृप्ति है जो डी० एच० लारेन्स की रचना में देखी जाती है। यह अतृप्ति ही लारेन्स की असफलता का मूल है। फिर भी जहाँ तक हो सका लारेन्स ने उक्त अतृप्ति को सामाजिक जामा पहनाया और उसे समाज के अधिकारी वर्गों के प्रति विद्रोह का साधन बनाया। जिस हद तक वह स्वस्थ रूप में ऐसा कर सका उस हद तक उसके साहित्य की सफलता भी स्वीकार करनी पड़ेगी, किन्तु अपने व्यक्तित्व मे यह सेक्स-अतृप्ति एकदम बहिष्कृत कर पूर्णतः तटस्थ साहित्य का निर्माण वह नहीं कर सका।

यही अवस्था उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रान्सीसी यथार्थवादियों की भी थी। उन्होंने सामाजिक चित्रणों में यथार्थवादी वैज्ञानिकता का दावा किया और वस्तून्मुखी सृष्टि में उन्हें सफलता भी कम नहीं मिली, पर किसी प्रकार का उच्च या प्रगतिशील जीवन-सन्देश उनकी रचनाओं में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में, प्रकट न हो सका। उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शिता और वैज्ञानिक यथार्थता साहित्य को नीचे गिरने से न रोक सकी। ह्रास के बीज लेखकों के व्यक्तित्व में ही मौजूद थे।

यहाँ विद्रोही लारेन्स या फ्रान्सीसी यथार्थवादियों से भगवतीप्रसादजी की तुलना का उद्देश्य नहीं है। किन्तु यह तो देखना ही होगा कि वाजपेयी जी की कला में उनका व्यक्तित्व सम्बन्धी यह द्वन्द्व कितनी सीढ़ियाँ पार कर चुका है और कितने ऊँचे

पहुँच चुका है। आरम्भ मे जब उन्हें इसकी अभिज्ञता भी न थी—आत्मविश्लेषण का सूत्रपात भी न हुआ था—उनकी रचना में वह स्थूल वैयक्तिक स्वरूप धारण किये हुए रहा। तब तक पक्ष-विपक्ष का प्रश्न ही उनके सामने न था, आदर्शीकरण (rationalisation) की समस्या ही उपस्थित न थी। क्रमशः वह उपस्थित हुई और भगवतीप्रसादजी उसके सम्बन्ध में अधिक सचेत हो गये। सर्वत्र एक ही प्रकार के उद्‌गार अब नहीं रहे, पात्र-अपात्र की ओर भी उनका ध्यान गया। परिस्थितियो का चुनाव भी वे करने लगे और क्रमशः परिस्थिति और वातावरण-प्रधान कहानी-लेखक बन गये। यथार्थवादी साहित्य सृष्टि की ओर यह उनका पहला कदम था। इसी समय 'प्रगतिशील साहित्य' की भी आवाज़ उठी और सत्ताधारी वर्ग के विरुद्ध साहित्यिक जिहाद शुरू हो गया। वाजपेयीजी को अवसर मिला, वे भी विद्रोही बन गये और सारा आक्रोश सत्ताधारियो के सिर ढहने लगा।

इस प्रकार वाजपेयी जी की कला और उसकी सामाजिक उपयोगिता बराबर ऊँची उठती गई है। यद्यपि अब भी वह अपनी पराकाष्ठा पर नहीं पहुँची है और उनका साहित्यिक तथा मानसिक विकास अब भी जारी है।

ऊपर मैंने यथार्थवादी साहित्य-सृष्टि की ओर वाजपेयी जी के आगे बढ़ने का उल्लेख किया है। प्रश्न उठता है कि यह यथार्थवाद और आदर्शवाद क्या है और साहित्य मे इनका कौन सा स्थान है? इस प्रश्न पर बहुत लोगों ने बहुत प्रकार से विचार किया है। मेरा अपना मत यह है कि ये दोनो साहित्य की चित्रण शैली के दो स्थूल विभाग मात्र हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्यसत्ता की ओर दोनो का झुकाव रहता है। किन्तु एक में (आदर्शवाद में) विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है (यहाँ 'इष्ट' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है जिस अर्थ में रसवादी 'रस' का प्रयोग करते हैं) और दूसरे में सामान्य या अनिष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यञ्जना होती है। (यहाँ मैं रससिद्धान्त को ध्यान में रखकर यह परिभाषा कर रहा हूँ)।

मूलतः इन दोनों वादों का इतना ही भेद है, किन्तु साहित्य के इतिहास मे इन्होंने

अनेकानेक स्वरूप धारण किये और नाना मत-मतान्तरों की सृष्टि की है। दृष्टि-भेद और उपकरण-भेद के कारण इन दोनों कलास्वरूपों में कुछ-न-कुछ अन्तर होना तो अनिवार्य ही है, किन्तु ये दोनों ही वाद समय-समय पर भयानक अति की ओर चले गये हैं, यहाँ तक कि साहित्य अपने मूल स्वरूप से ही दूर जा पड़ा है। उदाहरण के लिए आदर्शवादी अति के युगों में वह कोरे नीरस उपदेशों का संग्रह मात्र बन गया है (कला की सत्ता ही मिट गई है) और यथार्थवादी अति के युगों में कला के लिए कला, सत्य के लिए सत्य और वैज्ञानिक चित्रण आदि के नाम पर अपेक्षाकृत कम महत्व की तथा अनिर्दिष्ट बातों में उलझ गया है।

यहाँ इन दोनों वादों का इतिहास लिखने की हमें आवश्यकता नहीं है। सामान्य रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि आदर्शवादी साहित्य-शैली में असाधारण वातावरणों और उदात्त वर्णनों की प्रधानता होती है जब कि यथार्थवादी शैली में जीवन की सामान्य परिस्थितियाँ और व्यवहार बहुतायत से ग्रहण किये जाते हैं।

अस्तु, भगवतीप्रसादजी के बाद श्री० इलाचन्द्र जोशी दूसरे उल्लेखनीय साहित्यिक हैं, जिनका ध्यान यथार्थवादी रचना-पद्धति की ओर गया है और जो इस दिशा में सफलता प्राप्त कर रहे हैं।

श्री० रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल', जिनके सम्बन्ध में इस पुस्तक का अन्तिम निबन्ध लिखा गया है, की गणना यथार्थवादियों में नहीं की जा सकती। इनका व्यक्तित्व इनकी रचना में बहुत ही स्पष्ट है और इनका उद्देश्य भी छिपा हुआ नहीं है। इनमें मनोवैज्ञानिक तटस्थता या चित्रण के लिए चित्रण की प्रवृत्ति एकदम ही नहीं देख पड़ती, जो यथार्थवादी रचना के लिए अनिवार्य भी है। अतः जहाँ कहीं इनकी रचनाओं में उन्मादक प्रवृत्तियों की प्रधानता है अथवा अन्य किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक मर्यादा-हीनता है वहाँ मानना पड़ेगा कि इस अभ्युदयशील लेखक के विकास में कमी है।

मेरा कहना यह नहीं कि यथार्थवादी रचनाओं में ये त्रुटियाँ क्षम्य हो जाती हैं, या इन्हें छूट दे दी जाती है। अन्तर यह पड़ जाता है कि यथार्थवादी रचना में ये

ही नहीं, बर्नार्ड शा की तर्क-प्रधान शैली से प्रभावित लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे नये बुद्धिवादी भी प्रेमचन्द के नपे-तुले आदर्शवाद से बेहद असन्तुष्ट थे।

उसी समय के आस-पास (सन् ३०-३१) लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में नया बुद्धिवादी उन्नयन देखा गया। किन्तु स्वच्छन्दतावादी प्रवाह इतना तीव्र था कि ये नाटक शैली-सम्बन्धी अपनी विशिष्टता लिए हुए भी, उसी धारा में बह गये। 'सिन्दूर की होली' जो उनकी सबसे प्रौढ़ रचना है, इसी प्रवाह में पड़ी हुई है। किन्तु लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने उस समय के साहित्य-प्रवाह में एक नई हलचल अवश्य उत्पन्न की। उनकी टेकनीक में नवीनता है और रचना में नूतन जीवन की विशृंखलता का आभास है।

काव्य में नया आन्दोलन पहले 'अञ्चल' और बाद को 'बच्चन' के आने पर आरम्भ हुआ। अञ्चल में छायावादी शैली का परित्याग नहीं था, पर बच्चन सारा साँचा बदल कर आये थे। अञ्चल आरम्भ में अतृप्ति से आक्रान्त थे बच्चन निराशा से। बच्चन की 'मधुशाला' उन दिनों (आयाराम नहीं तो) बेकार युवकों के लिए साहित्य में सब से बड़ा प्रलोभन थी। इसके प्रशंसक थे या तो वे युवक या 'शेष-स्मृतियाँ' के प्रसिद्ध निर्माता महाराजकुमार रघुवीरसिंह।

और जब बच्चन आगे बढ़े, 'एकान्त' सङ्गीत और 'निशानिमन्त्रण' की प्रौढ़तर रचनाओं तक पहुँचे, तब उनके वे प्रशंसक पीछे हटने लगे। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि कवि और उसके प्रशंसकों में कहाँ तक साम्य है। हाँ, 'मधुशाला' और 'शेष-स्मृतियाँ' एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करती हैं—मध्यकालीन मादक स्वप्न।

अञ्चल में ओज अधिक है। किन्तु व्यक्तित्व का पूरा परिष्कार उनके साहित्य में अभी अब तक नहीं आया। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के बाद उनका तीसरा काव्य-संग्रह 'किरण-बेला' विषय की दृष्टि से ईप्सित दिशा में आगे बढ़ा है, किन्तु [illegible] का उन्माद इसमें भी है। अपने अन्तिम काव्य-संग्रह 'करील' में तरुण [illegible] और [illegible] की ओर कवि कई कदम आगे बढ़ा है। यह शुभ लक्षण है और हम निश्चिन्त होकर अञ्चल के आगामी कृतित्व की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

'नरेन्द्र' आप ही अपने को क्षयशील कवि कहते हैं। उनका कहना है कि पानी मे डूबता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार हाथ-पैर मार कर बचने की चेष्टा करता है, वैसी ही चेष्टा उनकी भी है। हमे आशा करनी चाहिए कि यह डूबता हुआ कवि अनुकूल तरंगाघातो मे पड़ कर बच निकलेगा और स्वस्थतर रागिनी सुना सकने योग्य सबलता भी धारण करेगा।

नवीन कवियों में एक नाम, जिसे किसी प्रकार नहीं छोड़ा जा सकता किन्तु जिसकी अक्सर उपेक्षा की जाती है, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का है। वाद-विवाद से दूर रहने के कारण उनकी रचना मे मध्यवर्ग की वर्तमान अवस्था के बड़े ही सच्चे चित्र उतरे हैं। उसका ऐतिहासिक मूल्य है और उसके निर्माण में दो-टूक सफाई है।

श्री० उदयशंकर भट्ट छायावाद की भूमि पार कर नवीन क्षेत्र में आये हैं। 'अश्क' जी की शब्द-शक्ति जितनी ही सीमित है भट्टजी की उतनी ही विस्तृत। इनकी रचनाओं में 'प्रगति' और 'प्रतिक्रिया' पराकाष्ठा पर पहुँची मिलती हैं, जिससे प्रकट होता है कि ये अनुभूति-प्रधान कवि है, किसी वाद के वश में नहीं। अनिर्दिष्ट काव्य-प्रवृत्तियो के युग में पड़ कर इस सच्चे कवि का व्यक्तित्व बिखर न जाय, यही भय है।

इसे मैं अनिर्दिष्ट काव्य-प्रवृत्तियो का युग इसलिए कहता हूँ कि ये रचनाकार तो जा रहे हैं एक ओर और इन्हें रास्ता दिखाया जा रहा है एक ओर। रास्ता दिखाने वालो की संख्या रास्ता देखने वालों से भी अधिक है। श्री० अज्ञेय, श्री० नरोत्तम, डाक्टर रामविलास, श्री० शिवदानसिंह, प्रोफेसर प्रकाशचन्द्र और माचवे ये सब मार्ग प्रदर्शक हैं। रास्ते पर चल कितने रहे हैं, यह प्रश्न दूसरा है। इसी रास्ते का नाम है प्रगतिवाद।

ये ही प्रोफेसर और डाक्टर मजदूरो और किसानों का राज्य चाहते हैं। उद्देश्य ऊँचा है, पर अभी इसमें वास्तविकता कम है। नई शैलियाँ और नये प्रयोग निकल रहे हैं, पर नये प्राणों का निर्माण नहीं हुआ।

क्या ये प्रोफेसर और डाक्टर, मजदूर और किसान की दृष्टि से दुनिया को देखते हैं? क्या ये अपने वर्गगत और जातिगत संस्कारो का परित्याग कर चुके हैं?

ही नहीं, बर्नार्ड शा की तर्क-प्रधान शैली से प्रभावित लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे नये बुद्धिवादी भी प्रेमचन्द के नपे-तुले आदर्शवाद से बेहद असन्तुष्ट थे।

उसी समय के आस-पास (सन् ३०-३१) लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में नया बुद्धिवादी उन्नयन देखा गया। किन्तु स्वच्छन्दतावादी प्रवाह इतना तीव्र था कि ये नाटक शैली-सम्बन्धी अपनी विशिष्टता लिए हुए भी, उसी धारा में बह गये। 'सिन्दूर की होली' जो उनकी सबसे प्रौढ़ रचना है, इसी प्रवाह में पड़ी हुई है। किन्तु लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने उस समय के साहित्य-प्रवाह में एक नई हलचल अवश्य उत्पन्न की। उनकी टेकनीक में नवीनता है और रचना में नूतन जीवन की विशृंखलता का आभास है।

काव्य में नया आन्दोलन पहले 'अञ्चल' और बाद को 'बच्चन' के आने पर आरम्भ हुआ। अञ्चल में छायावादी शैली का परित्याग नहीं था, पर बच्चन सारा साँचा बदल कर आये थे। अञ्चल आरम्भ में अतृप्ति से आक्रान्त थे बच्चन निराशा से। बच्चन की 'मधुशाला' उन दिनों (आवारा नहीं तो) बेकार युवकों के लिए साहित्य में सब से बड़ा प्रलोभन थी। इसके प्रशंसक थे या तो वे युवक या 'शेष-स्मृतियाँ' के प्रसिद्ध निर्माता महाराजकुमार रघुवीरसिंह।

और जब बच्चन आगे बढ़े, 'एकान्त' सङ्गीत और 'निशानिमन्त्रण' की प्रौढ़तर रचनाओं तक पहुँचे, तब उनके वे प्रशंसक पीछे हटने लगे। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि कवि और उसके प्रशंसकों में कहाँ तक साम्य है। हाँ, 'मधुशाला' और 'शेष-स्मृतियाँ' एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करती हैं—मध्यकालीन मादक स्वप्न।

'अञ्चल' में ओज अधिक है। किन्तु व्यक्तित्व का पूरा परिष्कार उनके साहित्य में भी अब तक नहीं आया। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के बाद उनका तीसरा काव्य-संग्रह 'किरण-वेला' शिल्प की दृष्टि से ईप्सित दिशा में आगे बढ़ा है, किन्तु अभिव्यक्ति का उन्माद इसमें भी है। अपने अन्तिम काव्य-संग्रह 'करील' में तरुण चिन्तन और आदर्शों की ओर कवि कई कदम आगे बढ़ा है। यह शुभ लक्षण है और हम निश्चिन्त होकर अञ्चल के भावी कार्य की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

करते हैं। तात्पर्य यह कि रचना के स्वरूप और उसके प्रभावों की पूरी परीक्षा हो जाने पर ही उसकी प्रगतिशीलता या अप्रगतिशीलता का निर्णय हो सकेगा।

और तब काव्य में सैद्धान्तिक चर्चा के स्थान पर कलात्मक और मनोवैज्ञानिक चर्चा की प्रधानता हो जायगी और बहुत सा वितण्डावाद जो साहित्य के वास्तविक मूल्य निरूपण मे बाधक बना रहा है, आपसे आप दूर हो जायगा। तब पन्त जी सरीखे कवियों का अपनी पूर्व की सुन्दर रचनाओं के सम्बन्ध का हीनताभाव मिट जायगा और वे काव्य को सिद्धान्तचर्चा का पर्यायवाची मान लेने के धोखे से बच जायँगे। साथ ही 'भौतिक विज्ञानवाद', 'अध्यात्मवाद', 'वर्गसङ्घर्ष' आदि के फिर्कों से भी हमारे साहित्य की रक्षा हो जायगी।

जो कुछ हो, इस नवीन साहित्यिक उत्थान के प्रति मेरा यथेष्ट सम्मान है और अपने नये साहित्य के सामने आई हुई समस्याओं से मेरी पूरी सहानुभूति है। मुझे आशा है कि सच्ची क्रान्तिकारी या प्रगतिशील चेतना से अनुप्राणित होकर हमारा (जिसके लिए जीवन को भी उसे साँचे में ढालना आवश्यक है) नया साहित्य नये युग को नई कला की मूल्यवान विरासत दे जायगा, जिससे हमारी परम्परा-प्राप्त सांस्कृतिक सम्पत्ति पुष्ट से पुष्टतर होगी।

सक्षेप में यही विवरण है हमारे नवीनतर साहित्य का और इसी विवरण में 'साहित्य-सन्देश' के श्लीलता-अश्लीलता (या व्यापक शब्दों में मानसिक स्वास्थ्य) सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर भी मोटे तौर पर आ गया। बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य अभी यहीं तक पहुँचा है, इसलिए स्वभावतः हमारी यह विज्ञप्ति भी यहीं समाप्त हो जाती है। अब केवल कुछ आत्मनिवेदन करना है और तत्पश्चात् क्षमायाचना।

ऊपर बीसवीं शताब्दी के साहित्य की जिस सामान्य रूपरेखा का उल्लेख किया गया उससे इस साहित्य का विस्तार और इसकी अनेकरूपता तो प्रकट हुई ही, इसके आलोचना-कार्य की पेचीदगी का भी कुछ-न-कुछ आभास मिला। अनेक जटिल प्रश्न उपस्थित हो गये हैं जो इसके पहले उपस्थित नहीं थे। यहाँ यह भी निवेदन करना अनुचित न होगा कि इन निबन्धों में इस युग के साहित्य की समीक्षा का प्राथमिक प्रयास किया

यदि नहीं तो कोरी विवेचना से क्या होगा ? एक नया पन्थ भले ही खुल जाय, राष्ट्र और साहित्य का कोई वास्तविक हित न हो सकेगा।

यदि काव्य-साहित्य को किसी 'वाद' के अंकुश पर न चला कर उसे स्वाभाविक गति से चलने दिया जाय तो अधिक अच्छा हो। 'वाद' पद्धति पर चलने का नतीजा साहित्य में कृत्रिमता बढ़ाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना ही हो सकता है।

इस सम्बन्ध में सबसे ताजे उदाहरण पन्त जी की 'ग्राम्या' और अज्ञेय की 'शेखर : एक जीवनी' के लिये जा सकते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' में लेखक का व्यक्तित्व, उसकी आकांक्षाएँ और विरक्तियाँ जिस तीव्रता और सफ़ाई के साथ व्यक्त हुई हैं, 'ग्राम्या' में वह बात नहीं है, पर 'वादी' कसौटी पर कसने पर श्री० शिवदानसिंह चौहान को पन्तजी की प्रशंसा में 'हंस' के पचीसों पन्ने रँगने पड़े (समझदार पाठकों पर प्रभाव क्या पड़ा यह तो पाठक ही जानें) और 'शेखर : एक जीवनी' की सबल रचना पर आपने इधर-उधर शिकायत ही लिखी।

शिवदानसिंह तो शिवदानसिंह, स्वयं अज्ञेय जी के लिए यह निर्णय करना कठिन होगा कि उनके 'वाद' और उनकी इस सृष्टि के बीच कहाँ तक साम्य है। प्रायः सभी प्रगतिवादी, आलोचक की हैसियत से कुछ और कहते हैं रचयिता की हैसियत से कुछ रचते हैं। अज्ञेय और यशपाल जैसे क्रान्तिवादी भी अब साहित्य की 'दूसरी दुनिया' का मर्म समझने लगे हैं। यह शुभ लक्षण है क्योंकि इससे साहित्य में स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा होगी और कला की अपनी सत्ता पर विश्वास बढ़ेगा।

'दूसरी दुनिया' से मेरा मतलब यह नहीं कि सामने के संसार से आँखें मूँदी जायँ और कल्पना-लोक में विचरण किया जाय। इससे मेरा मतलब केवल यह है कि कोरी बौद्धिक सृष्टि और कला-सृष्टि का भेद समझा जाय।

उल्लेखनीय बात यह भी है कि दुःखान्त सृष्टियों के सम्बन्ध में पहले से ही निश्चयात्मक धारणा नहीं बनाई जा सकती। कवि के उन लक्ष्यों और उद्देश्यों को भी ध्यान में रखना होगा जो दुःखान्त रचना में आकर उसके वास्तविक मर्म को प्रकट

करते हैं। तात्पर्य यह कि रचना के स्वरूप और उसके प्रभावों की पूरी परीक्षा हो जाने पर ही उसकी प्रगतिशीलता या अप्रगतिशीलता का निर्णय हो सकेगा।

और तब काव्य में सैद्धान्तिक चर्चा के स्थान पर कलात्मक और मनोवैज्ञानिक चर्चा की प्रधानता हो जायगी और बहुत सा वितण्डावाद जो साहित्य के वास्तविक मूल्य निरूपण मे बाधक बना रहा है, आपसे आप दूर हो जायगा। तब पन्त जी सरीखे कवियों का अपनी पूर्व की सुन्दर रचनाओं के सम्बन्ध का हीनताभाव मिट जायगा और वे काव्य को सिद्धान्तचर्चा का पर्यायवाची मान लेने के धोखे से बच जायँगे। साथ ही 'भौतिक विज्ञानवाद', 'अध्यात्मवाद', 'वर्गसङ्घर्ष' आदि के फिर्कों से भी हमारे साहित्य की रक्षा हो जायगी।

जो कुछ हो, इस नवीन साहित्यिक उत्थान के प्रति मेरा यथेष्ट सम्मान है और अपने नये साहित्य के सामने आई हुई समस्याओं से मेरी पूरी सहानुभूति है। मुझे आशा है कि सच्ची क्रान्तिकारी या प्रगतिशील चेतना से अनुप्राणित होकर हमारा (जिसके लिए जीवन को भी उसे साँचे में ढालना आवश्यक है) नया साहित्य नये युग की नई कला की मूल्यवान विरासत दे जायगा, जिससे हमारी परम्परा-प्राप्त सांस्कृतिक सम्पत्ति पुष्ट से पुष्टतर होगी।

संक्षेप में यही विवरण है हमारे नवीनतर साहित्य का और इसी विवरण में 'साहित्य-सन्देश' के श्लीलता-अश्लीलता (या व्यापक शब्दों में मानसिक स्वास्थ्य) सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर भी मोटे तौर पर आ गया। बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य अभी यहीं तक पहुँचा है, इसलिए स्वभावतः हमारी यह विज्ञप्ति भी यहीं समाप्त हो जाती है। अब केवल कुछ आत्मनिवेदन करना है और तत्पश्चात् क्षमायाचना।

ऊपर बीसवीं शताब्दी के साहित्य की जिस सामान्य रूपरेखा का उल्लेख किया गया उससे इस साहित्य का विस्तार और इसकी अनेकरूपता तो प्रकट हुई ही, इसके आलोचना-कार्य की पेचीदगी का भी कुछ-न-कुछ आभास मिला। अनेक जटिल प्रश्न उपस्थित हो गये हैं जो इसके पहले उपस्थित नहीं थे। यहाँ यह भी निवेदन करना अनुचित न होगा कि इन निबन्धों में इस युग के साहित्य की समीक्षा का प्राथमिक प्रयास किया

गया है। इसके पहले इस विषय की कोई व्यवस्थित सामग्री उपलब्ध न थी। आचार्य शुक्लजी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इनमें से अधिकांश निबन्धों के लिखे जाने के बाद प्रकाशित हुआ है और उसमें भी आधुनिक साहित्य का विवेचन बड़ी मोटी क़लम से किया गया है। नवीन साहित्य की प्रेरक शक्तियों, नवीन व्यक्तित्वों और नये विकास के अनुरूप उनकी रचनाओं की वास्तविक छानबीन में शुक्लजी एक प्रकार से उतरे ही नहीं। वे अभिव्यक्ति की प्रणालियों तक ही पहुँचे अथवा अपनी पहले से बँधी दार्शनिक धारणाओं के आधार पर सम्मतियाँ देते गये। यही कारण है कि 'शेष स्मृतियाँ' 'नूरजहाँ' और 'युगवाणी' उन्हें नवीन साहित्य के गद्य और पद्य में तीन सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ प्रतीत हुईं। नवीन विश्लेषण और नये साहित्य की वास्तविक विकास-दिशा के अध्ययन में शुक्लजी ने सम्भवतः अधिक समय नहीं लगाया।

फिर उनकी और मेरी समीक्षा-दृष्टियों में कुछ न कुछ अन्तर है ही। तुलना की धृष्टता न करते हुए भी यह संकेत किया जा सकता है कि शुक्लजी का ध्यान सदैव काव्य के उदात्त स्वरूप और उसमें निहित लोकादर्शवाद की ओर रहा है। काव्य के उदात्त स्वरूप को उन्होंने प्रबन्ध काव्य में सीमित कर दिया और लोकादर्शवाद को एक सामान्य नैतिक आधार देकर बहुत कुछ रूढ़ बना दिया। जीवन का वैचित्र्य और बहुरूपता, लोकादर्शों की ऐतिहासिक प्रगति और परिवर्तन तथा काव्य स्वरूप का नव-नव विकास और विन्यास उनका ध्यान अधिक आकृष्ट न कर सके। फलतः उनकी समीक्षा में बड़ी हद तक एकरूपता है और निजी विचारों की छाप है। विश्लेषण का समारोह, ऐतिहासिक अध्ययन और मनोवैज्ञानिक तटस्थता उतनी नहीं जितनी सामान्य रूप से साहित्य मात्र और विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी के नवोन्मेषों और प्रगतिशील साहित्य के लिए अपेक्षित थी। किन्तु, इससे शुक्लजी के महान् प्रवर्तन और आचार्यत्व में कोई कमी नहीं आती।

अब मैं सूत्र रूप में साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी अपनी प्रकाश-दिशा का भी उल्लेख कर दूँ तो अनुचित न होगा। इससे पाठकों को इस प्रकार के निबन्धों को समझने

मे सहायता ही मिलेगी। समीक्षा में मेरी निम्नलिखित मुख्य चेष्टाएँ हैं जिनमें क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है—

१—रचना मे कवि की अन्तर्वृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (Analysis of the poetic sprit)।

२—रचना मे कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (Aesthetic appreciation)।

३—रीतियो, शैलियों और रचना के बाह्याङ्गो का अध्ययन (Study of technique)।

४—समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

५—कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस-विश्लेषण)।

६—कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो आदि का अध्ययन।

७—काव्य के जीवन सम्बन्धी सामञ्जस्य और सन्देश का अध्ययन।

इन सूत्रों की संख्या अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है यद्यपि इनमे से एक-एक के कई-कई उपविभाग भी किये जा सकते हैं। यदि एक ही वाक्य में कहना हो तो कहा जा सकता है कि साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धों का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण में भी मैं उदासीन नहीं रहा हूँ। मेरी समझ में समस्त वादों के परे साहित्य-समीक्षा का प्रकृत पथ यही है। इसी माध्यम से साहित्य का स्थायी और सास्कृतिक मूल्य आँका जा सकता है।

यहाँ इतना और निवेदन करना है कि दयानन्द-युग, गाँधी-युग और समाजवादी युगों के नाम से इस शताब्दी के साहित्यिक उत्थानो का नामकरण करना मेरी समझ में ठीक नहीं है। प्रसाद, निराला अथवा पन्त के साहित्य में गाँधी-सिद्धान्तो का प्रभाव देखना बौद्धिक दासता-मात्र है। इसी प्रकार और भी।

अन्त मे मैं निवेदन करूँगा कि ये निबन्ध किसी एक नियमित क्रम या शैली

पर नहीं लिखे गए हैं। लेखकों की सम्पूर्ण रचनाओं को सब समय सामने नहीं रक्खा गया है। कहीं-कहीं तो किसी एक ही रचना पर पूरा निबन्ध आधारित है (यद्यपि ऐसे निबन्धों में लेखक की अन्य रचनाएँ भी अप्रत्यक्ष रूप से ध्यान में रही हैं)। किसी निबन्ध में किसी लेखक पर प्रशंसात्मक चर्चा की गई है और किसी अन्य पर विरोधी ढङ्ग से लिखा गया है। जिनकी आवश्यकता से अधिक उपेक्षा हो रही थी, उनकी प्रशंसा की गई है और जिनकी बेहद प्रशंसा हो रही थी, उनके सम्बन्ध मे दूसरे पक्ष को सामने रक्खा गया है। इसमे मेरा लक्ष्य लेखकों की स्थिति में सामञ्जस्य स्थापित करने का रहा है। किन्तु प्रशंसा या अप्रशंसा द्वारा भी रचयिता के व्यक्तित्व को सीमित और साकार करने की चेष्टा ही मुख्य रही है। इस प्रकार अनुकूल या प्रतिकूल विवेचन से लेखकों की वास्तविक रचना-क्षमता ही स्पष्ट हुई है। कम-से कम इतना तो कहूँगा ही कि ऐसा करते हुए कोई दूसरा लक्ष्य मेरे सामने नहीं था।

फिर भी उन लेखकों और कवियों से मैं करबद्ध क्षमाप्रार्थी हूँ जिनके सम्बन्ध में, किसी कारण हो, कड़े शब्दों का व्यवहार हो गया है। मुझे उनके महत्व पर विश्वास है इसीलिए उनके प्रति ऐसे शब्द लिखने का साहस भी हुआ। इस पुस्तक में आये सभी नामों के प्रति मेरे हृदय मे सम्मान और श्रद्धा है। वे सभी असाधारण व्यक्ति हैं। मुझे प्रसन्नता है कि मेरी पुस्तक में, लेखक का नाम छोड़कर, कदाचित एक भी साधारण नाम नहीं आया।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

लेखों की रचना तिथि—'विज्ञप्ति' सन् '४२। श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी '३३। 'रत्नाकर' '३३। श्रीमैथिलीशरण गुप्त '३१। 'साकेत' '३१। श्रीरामचन्द्र शुक्ल (१) '४२। (२) '३१। (३) '४०। 'प्रेमचंद' '३२। आत्मकथा विवाद '३२। जयशंकरप्रसाद '३१। श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी निराला '३१। 'गीतिका' '३६। निरालाजी के उपन्यास और आख्यायिकाएँ '३६। श्रीसुमित्रानन्दन पंत '३१। श्री० महादेवी वर्मा '४०। श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी '४०। श्री० जैनेन्द्रकुमार '४०। श्री० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' '३८।

श्री० महावीरप्रसाद द्विवेदी

[लेखक का यह निबध सन् '३३ के आरभ में लिखा गया था, जब द्विवेदी जी जीवित थे। यह लेख सर्व-प्रथम 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रथ' की प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित हुआ था, किन्तु कारणवश वहाँ लेखक का नाम न दिया जाकर, उसके स्थान पर ग्रंथ के सपादकों का नाम दे दिया गया था। यहाँ यह पहली बार लेखक के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।]

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, आधुनिक हिन्दी के युगप्रवर्तक लेखक और आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जिनके मस्तिष्क की भगीरथ शक्ति संसार में नवीन विचार-धारा प्रवाहित करती है 'ते नरवर थोरे जग माँही।' किन्तु जो नई नहरें निकाल कर उस धारा का स्वच्छ जल अपने समाज के लिए सुगम कर देते हैं, वे भी हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने पिछले पैंतीस-चालीस वर्षों के सतत परिश्रम से खड़ी बोली के गद्य और पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों द्वारा, पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी ज्ञान सम्पत्ति—सम्पूर्ण हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में मुक्त हस्त से वितरित की; जिसके लिए हम उनके ऋणी हैं। संयोग से इन दिनों पश्चिम में पण्डिताई अधिक सुलभ हो गई है; किन्तु परिग्रह की व्याधि बढ़ जाने के कारण वहाँ की वास्तविक बुद्धि-विभूति के घट जाने का भी भय कम नहीं है। प्रत्येक आगन्तुक प्रश्न को नवीन समस्या कहने और प्रत्येक विचार को नव्य दिव्य सन्देश के नाम से घोषित करने की जो प्रथा चल गई है, उससे मनुष्य अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्नता का कपटाचरण करने लगा है। यही नहीं, उनके चिर-काल व्यापी महान् उद्योग की शक्ति न समेट कर स्वय क्षीणता की ओर बढ़ने लगा है। हमारे द्विवेदी जी भी पण्डित हैं, किन्तु बहुत कुछ अपरिग्रही। उन्होंने हिन्दी को, हमको, जो कुछ प्रदान किया, यह कह कर नहीं किया कि यह मेरा है, इसे लो। उन्होंने हिन्दी से जो कुछ

भी है और उनका क्रम भी निर्धारित है। किन्तु द्विवेदी जी की ख्याति उन लेखो से नहीं है। उन्हे कोई नवीन विचार प्रवर्तक या दर्शन का सूक्ष्मदृष्टि अन्वेषक नहीं मानता।

तो क्या आचार्य की शिष्य-मण्डली ही उक्त प्रदर्शन मे सजा दी जाय? उनका शिष्य तो हिन्दी का अधिकाश समाज ही है; किन्तु उनके जो निकटस्थ सहयोगी और छात्र थे, जिन पर उनकी कृपा की विशेष दृष्टि रहती थी, जिनके लेखों और कविताओं पर द्विवेदी जी की 'सरस्वती' वाली कलम चलती थी—उनमे भी कतिपय ऐसे कवि और पण्डित हो गये है जिनकी कृतियाँ साहित्य में सरक्षणीय और सम्माननीय समझी जाती है। क्या द्विवेदी जी के ये नवीन सस्करण ही उनके प्रतिनिधि-रूप मे मान लिये जाएँ? किन्तु क्या यह न्याय होगा?

जो कुछ कार्य द्विवेदी जी ने किया, वह अनुवाद का हो. काव्य-रचना का हो, आलोचना का हो अथवा भाषा-सस्कार का हो या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो—वह स्थायी महत्त्व का हो या अस्थायी—हिन्दी मे युग-विशेष के प्रवर्तन और निर्माण में सहायक हुआ है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। उसी के आधार पर नवीन युग का साहित्य-प्रासाद खड़ा किया जा सका है। उनकी समस्त कृतियाँ युग की प्रतिनिधि होने का गौरव रखती है।

क्यो न 'सरस्वती' की सब सख्याएँ जिनमे द्विवेदी जी और उनकी मित्र-मण्डली की कृतियाँ हैं, हिन्दी के स्थायी कला-भवन मे रख दी जायँ? और उनके साथ ही द्विवेदी जी का वह सब संशोधन, काट-छाँट और कायापलट भी एकत्र कर दिया जाय जो उन्होंने मूल प्रतियों मे किया था और जिनके कारण वे प्रतियाँ मुद्रित प्रतियो से भी अधिक दर्शनीय और सग्राह्य हो गई है। जब यह बात सच है कि जो लोग द्विवेदी जी के सम्पर्क मे आये उन्होंने उनका मन्त्र ले लिया और जिन पर द्विवेदी जी की लेखनी चल गई, वे कला की शब्दावली में 'द्विवेदी-कलम' के लेख हो गये, तब क्यो न उनकी बीस वर्षों की सम्पादित 'सरस्वती' पर 'द्विवेदी-काल' का लेबल लगा कर रख दिया जाय? वे ऐसे-वैसे सम्पादक नहीं थे, सिद्धान्तवादी और सिद्धान्तपालक सम्पादक थे। जान पड़ता है कि वे निश्चित नियम बना कर उनके अनुसार अपनी रुचि के लेख मँगाते और वही छापते थे। सस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान, खड़ी बोली कविता का उन्नयन; नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भावाभिव्यजन; संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय: साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा—जो कुछ उनके लक्ष्य थे, उनकी प्राप्ति अपनी निश्चित धारणा के अनुसार 'सरस्वती' के द्वारा करना उनका सिद्धान्त था, अत.

'द्विवेदी-काल' की 'सरस्वती' में केवल द्विवेदी जी की भाषा की प्रतिमा ही गठित नहीं है, उनके विचारों का भी उसमें प्रतिबिम्ब पड़ा है। उन्होंने किसी संस्था की स्थापना नहीं की, परन्तु 'सरस्वती' की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक—तीन-तीन संस्थाओं के सञ्चालक—का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया। एक बार उन्होंने सोचा कि अङ्गरेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को हिन्दी के क्षेत्र में लाना चाहिए। बस 'सरस्वती' के प्रायः प्रत्येक अङ्क में अङ्गरेजी के विद्यार्थी-लेखकों की संख्या बढ़ने लगी, हिन्दी पर अङ्गरेजी का गहरा रङ्ग चढ़ने लगा और आज उस पर अङ्गरेजी के विद्वानों का बहुत कुछ अधिकार हो गया है। यह तो केवल एक उदाहरण है। द्विवेदी जी के सरस्वती-सम्पादन का इतिहास ऐसे अनेक आन्दोलनों का इतिहास है। वह उनके व्यक्तित्व और तत्कालीन समाज के विकास का इतिहास भी कहा जा सकता है।

जिस व्यक्ति ने लगातार बीस वर्षों तक लगभग दस करोड़ हिन्दी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया, वह लखनऊ की तलहटी का रहने वाला एक ग्रामीण ब्राह्मण है। जब अवध की नवाबी के दिन बीत चुके थे, तब उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक ग्राम में इनका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश के ये निवासी हैं—इस काल में उजड़ कर निरक्षरता और दरिद्रता का केन्द्र बन गया है। किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ तो लुप्त नहीं होतीं, इसलिए प्राचीन संस्कार भी कभी सुयोग पा कर पुनर्जन्म ले लेते हैं। गङ्गा की जो धारा कभी अपनी वीचि-रचना के उपलक्ष में वाल्मीकि के कवि-कण्ठ का सुरसंगार प्राप्त करती होगी, आज भी दौलतपुर के समीप से ही निकल कर बहती है। वे आम्रकानन जो कभी मोर, पथिकों के समीप अपने अमृतफल बरसाते थे, आज भी दौलतपुर के चतुर्दिक अपना वही उल्लास लिये खड़े हैं। वैशाख का महीना यद्यपि गर्मी का है, किन्तु रात को अच्छी ठण्डक पड़ती है। ऐसे ही समय इस ग्राम में शिशु महावीरप्रसाद ने जन्म लिया। सरस्वती का बीज-मन्त्र उसकी जिह्वा पर अङ्कित कर दिया गया। ज्योतिष-विद्या सत्य हुई।

शिशु महावीरप्रसाद की शिक्षा की कोई अच्छी व्यवस्था न हो सकी। उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा पाठशाला में मिली। घर पर 'शीघ्रबोध' वाली संस्कृत की आरम्भिक शि-क्षा कुछ अभ्यास भी किया। फिर अङ्गरेजी पढ़ने रायबरेली गये। पुरवा, उन्नाव आदि में भी इनकी पढ़ाई कुछ दिन चली। जो लोग उन दिनों के ग्रामों की परिस्थिति जानते हैं या जो आज के देहातों की अवस्था से परिचित हैं, उन्हें यह सुन कर आश्चर्य न होगा

कि स्कूली शिक्षा भी उनके लिए दुर्लभ हो गई थी। दरिद्रता मनुष्य को उद्योगी बना सकती है—बहुधा बनाती भी है। शिशु द्विवेदी अपने घर से १५ कोस दूर रायबरेली पैदल जाता था और सप्ताह भर के खाने-पीने का सामान साथ ले जाता था। अपने हाथ से भोजन बनाना तो साधारण बात थी ऊपर से फीस की विकट समस्या थी, यद्यपि वह कुछ आनो से अधिक नहीं पडती थी। बाल्यावस्था की दरिद्रता मनुष्य मे विनय, आत्म-विश्वास आदि उत्पन्न कर सकती है, किन्तु एक प्रच्छन्न उग्रता भी प्राय साथ लाती है। कुछ और गुणो के योग से यह उग्रता अवसर पा कर विचारो की दृढता और क्रिया की निष्ठा आदि सद्गुण भी उत्पन्न करती है, किन्तु इससे मनुष्य के स्वभाव मे जो और दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं उनसे द्विवेदी जी ने बचने की बराबर उत्तरोत्तर चेष्टा की है।

पढाई-लिखाई का क्रम भङ्ग होने पर ये अपने पिता के पास बम्बई चले गये और कुछ समय बाद इन्हे रेलवे मे एक नौकरी मिल गई। इसी बीच इन्होने मराठी और गुजराती भाषाओ की जानकारी भी प्राप्त कर ली और कुछ अङ्गरेज़ी भी सीखी। नौकरी के सिलसिले मे ये नागपुर, अजमेर और बम्बई रहे। बम्बई मे रहते हुए इन्होंने तार का काम सीखा और सीख कर जी० आई० पी० रेलवे मे तार बाबू हो गये। हरदा, खण्डवा, होशङ्गाबाद और इटारसी मे क्रम-क्रम से इनकी पदोन्नति होती गई। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इण्डियन मिडलैण्ड रेलवे) के ट्रैफिक मैनेजर श्री डब्ल्यू० बी० राइट ने इन्हे टेलीग्राफ इन्सपेक्टर बना कर झांसी भेज दिया। नई तरह का लाइन-क्लियर ईजाद कर के इन्होने वहां भी अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया। तारबर्की की एक पुस्तक भी अङ्गरेज़ी मे लिखी। इन दिनो ये कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार-सम्बन्धी काम देखते थे और बङ्गालियो की सङ्गति में रह कर बङ्गला भी सीखते थे। यद्यपि दौलतपुर का वह ग्रामीण ब्राह्मण रेलवे के एक उच्च पद पर पहुँच कर किसी प्रकार की माथा-पच्ची किये बिना सुख के साथ समय बिता सकता था, परन्तु द्विवेदी जी की उदात्त प्रकृति के वह अनुकूल न था। झाँसी के पुराने डी० टी० एस० की बदली होने पर जो नए साहब आये उनसे एक दिन द्विवेदी जी की कहा-सुनी हो गई, दूसरे दिन रेलवे का काम साहब के सुपुर्द कर आप हिन्दी के क्षेत्र में चले आये। तब से वे वहाँ और ये यहां।

द्विवेदी जी की यह जीवनी एक नए युगोन्मेष की सूचक तो है ही, यह राष्ट्रोत्थान के उस काल-विशेष की प्रतीक भी है। यह पूर्व-कथा इसलिए आवश्यक थी कि द्विवेदी जी के साहित्य-सम्बन्धी क्रिया-कलाप मे उनके बाल्यकाल के ग्रन्थिबद्ध संस्कारों की

गयी छाप लगी है, और उनकी लेख-शैली तो मानो उस लौह-लेखनी से प्रकट हुई है जिसे वे रेलवे आफिस में इस्तेमाल करते थे। खड़ी बोली के गद्य और पद्य दोनों में उन्होंने वही लौह-लेखनी चलाई जो इतिहास में 'द्विवेदी-कलम' के नाम से प्रचलित होगी। पहले कुछ समय तक तो द्विवेदी जी ने पद्य में खड़ी बोली का थोड़ा-बहुत शैथिल्य सहन किया जैसे उनके 'कुमार-सम्भव-सार' के इस पद्य में :—

अधरों के रँगने मे अपना अतिशय कोमल कर न लगाय,
कुच-गत-अङ्गराग से अरुणित कंदुक से भी उसे हटाय।
कुश के अङ्कुर तोड़-तोड़ कर घाव उँगलियों में उपजाय,
किया अक्षमाला का साथी उसे उमा ने बन में आय॥

यहाँ 'अधरों' का औं कार अभी पिट कर 'ओ' कार मे परिणत नहीं हुआ और न 'लगाय', 'हटाय', 'उपजाय' और 'आय' के अन्तिम 'य' कार का लोप कर 'लगा', 'हटा', 'उपजा' और 'आ' के स्पष्ट प्रयोग ही निकले हैं। यही नहीं, 'आग' के बदले 'आगी' भी आई है जिसे लेकर पण्डित श्रीधर पाठक की 'कहाँ जले है वह आगी' पर काफ़ी खींचातानी की गई थी। यह सन् १६०२ की रचना है, जब द्विवेदी जी हिन्दी-पद्य की नई प्रणाली चला रहे थे।

परन्तु जो बात किसी प्रकार प्रकट हुए बिना रह नहीं सकती, वह यह है कि खड़ी बोली के आरम्भिक पद्यों में अर्थ की रमणीयता चाहे जितनी खो गई हो और भाषा के लिहाज़ से भी थोड़ा-बहुत अनियम क्या न हुआ हो, पर एक नई परिपाटी—भावाभिव्यक्ति की ऐसी लाइन-क्लियर सीधी-सादी स्वच्छ सपाट शैली अवश्य चल निकली है जिसमें अस्पष्टता, दुरन्वय दोष या अर्थ-क्लिष्टता कहीं नहीं है। मस्तिष्क लड़ा कर अर्थ निकालने का झगड़ा हमें नहीं करना पड़ता।

किन्तु रस ? रस के विषय में यही कहना चाहिए कि भाषा की चुस्ती और अर्थ की सफ़ाई में ही द्विवेदी जी ने विशेष रूप से रस लिया। उस काल के चित्रकार जैसे रवि वर्मा थे, वैसे ही कवि द्विवेदी जी और उनके साथी हुए। ये लोग आचार्य और सुधारक अधिक हैं। कविता जिस प्रकार की सौन्दर्य-सामग्री का व्यवहार कर अन्तर को [illegible] करती है, उसका स्पर्श करने में ये वैसे लौह-लाठ से हारे हुए हैं। इनकी कविताएँ [illegible] उपदेशात्मक हैं, वस्तु की व्यञ्जना करती हैं, अन्तर के तारों को झनझनाती नहीं। [illegible] टकटकी बाँध कर चुप हो जाती हैं। 'कवि-

कलाप' मे द्विवेदी-काल के जिन प्रधान कवियो का काव्य-सग्रह है, प्राय उन सब मे यही बात है।

तथापि यह आरम्भ की बात है, कालान्तर मे इसका परिवर्तन भी हुआ। स्वय द्विवेदी जी ने प्राचीन सरसतम काव्यो का अनुवाद किया। उनके कविता-क्षेत्र के प्रधान सहकारी मैथिलीशरण जी गुप्त ने हिन्दी-भिन्न सामयिक साहित्य का अध्ययन कर के सरस काव्य की आत्मा पहचानी और हिन्दी के नवीन उत्थान के कुछ वास्तविक कवियो का भी अनुसरण किया। द्विवेदी जी ने भी साहित्य की सक्रिय सेवा से अवसर ग्रहण करने के उपरान्त भक्ति के स्रोत मे निमज्जित होकर कविता-मुक्ता के दर्शन किये। किन्तु सामयिक साहित्य मे कविता की जो उनकी विरासत है, वह अधिकाश मे शब्दो का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की सन्यासिनी की प्रतिमा है—उसमे काव्य-कला का वास्तविक जीवन-स्पदन कहीं ही कहीं मिलता है।

'कविता-कलाप' का अध्ययन करने से यह भी प्रकट होता है कि द्विवेदी जी आदि को मुक्तक पद्यो की अपेक्षा छोटे-छोटे कथानको मे अधिक सफलता मिली है। घटना का सूत्र न रहने के कारण मुक्तक के कवि को कल्पना-भूमि में एक प्रकार से निरवलम्ब हो जाना पड़ता है। जहाँ कोई कथा आ जाती है, वहाँ और कुछ नहीं तो वर्णन का एक आधार, आकर्षण का कुछ हेतु तो मिल ही जाता है; किन्तु मुक्तक तो सब प्रकार से मुक्त गीत है। उस समय द्विवेदी जी जिस जरूरी काम मे लगे हुए थे, उसे छोड़ कर गीत गाने की फुर्सत भी तो हो! भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन कई महानुभाव दूसरी ही रुचि रखते थे। उनका मन साहित्य के प्रत्येक अङ्ग की श्री-शोभा बढ़ाने, उसका शृङ्गार करने की ओर था। उन लोगों ने कविता की, नाटक रचे, निबन्ध लिखे, उपन्यासो का भी श्रीगणेश किया, और उनकी ये सब रचनाएँ सचमुच हमारे आधुनिक आरम्भिक साहित्य का शृङ्गार हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मे कल्पना की बड़ी ही कमनीय शक्ति थी। उनके समसामयिक कितने ही लेखक सजीव और सरस साहित्य की अवतारणा करने मे सिद्धहस्त हुए। 'द्विवेदी-काल' का साहित्य सब से पहले खड़ी बोली का आग्रह करके चला। गद्य और पद्य की भाषा एक करके जनता तक नवीन युग का सन्देश पहुँचाना ही उनका उद्देश्य था। साहित्यिक सामग्री को समाजव्यापी बनाने का ध्येय लेकर ये लोग निकले थे। खड़ी बोली को छन्दों के साँचे में ढाल देना—एक अनभ्यस्त कार्य कर दिखाना—जब सध गया, तब द्विवेदी जी ने छन्द की मेशीनरी को भी अपने उसी प्रचार-कार्य में लगाया। इस काल की

कविता का अलङ्कार उसकी सरलता और सामयिकता है। हृदय के निष्कपट उद्गार—चाहे वे रूखे उद्गार ही हों—उसमें भरे हैं। ब्रज-भाषा की शृङ्गारिक कविता से विरक्ति हो जाने के कारण समाज में इस नवीन काव्य-साधना का अच्छा सत्कार किया गया। कहीं-कहीं छोटी-छोटी रचनाओं में भी बड़े ही मधुर भाव भरे मिलते हैं। कविता का चोला बदल गया।

कविता और साहित्य के विषय में द्विवेदी जी के विचार जानने की इच्छा बहुतों को होगी; परन्तु वे उनके फुटकर निबन्धों को पढ़ कर कोई निश्चित धारणा नहीं बना सकेंगे। यह एक बात प्रत्यक्ष है कि उन्होंने सामयिक और लोक-हितैषी विचारों के पक्ष में शक्तिशाली प्रेरणा उत्पन्न की। कुमारसम्भव के आदि के ही पाँच सर्गों का सार प्रकाशित करके उन्होंने अतिशय शृङ्गारिकता से हिन्दी को बचाने का प्रयत्न किया। जब 'हिन्दी-नवरत्न' में मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी के नौ सर्वोत्तम कवियों की श्रेणी-शृङ्खला तैयार की और उन पर अपने विचार प्रकट किये, तब लोगों को हिन्दी-कविता के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की राय जानने का अवसर मिला। 'हिन्दी-नवरत्न' की समीक्षा करते हुए द्विवेदी जी ने सब से पहले यह प्रदर्शित किया कि कवियों के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय करने की एक व्यवस्था, एक क्रम होना चाहिए। किन्तु व्यवस्था क्या हो और क्रम कैसा हो इस पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा। यह अवश्य देखने में आया कि द्विवेदी जी ने सूर तुलसी आदि भक्त कवियों की एक कोटि बना दी, देव आदि को अन्य स्थान दिया और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को इन सब से पृथक् रखने की सम्मति दी। यद्यपि यह नहीं स्पष्ट हुआ कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को किस विशेष श्रेणी में रखने की उन्होंने सिफारिश की और किस आधार पर, किन्तु इससे भारतेन्दु के प्रति द्विवेदी जी की अगाध श्रद्धा अवश्य प्रकट हुई। गद्य का नवीन उत्थान ही द्विवेदी जी का साध्य था। अतः नव्य साहित्य का निर्माण करने वाले प्रथम महापुरुष होने के कारण हरिश्चन्द्र को द्विवेदी जी ने 'नवरत्न' के कवियों से अधिक उच्च आसन का अधिकारी समझा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र खड़ीबोली-गद्य के यशस्वी विधायक थे और द्विवेदी जी भी उसी पथ के पथिक थे। सम्भव है भारतेन्दु के प्रति उनकी श्रद्धा रखने का एक हेतु यह भी हो।

हिन्दी की साहित्य-समीक्षा का इतिहास विशेष रूप से मनोरञ्जक है। आरम्भ में जब [illegible] भक्तमाल के ढंग शैली काव्य-रचना कर रहे थे, तब जान पड़ता है कि भक्तवर नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' का सुमेरु तुलसीदास को बना कर उनकी

के गोरव की उतनी व्यञ्जना नहीं की थी जितनी भक्तों की परिपाटी की रक्षा की थी। अथवा की भी हो तो पता नहीं। लोक-प्रचलित कुछ पदो से, जैसे 'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास', 'तुलसी गङ्ग दुओ भए सुकविन के सरदार', 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'—यद्यपि जनता के साहित्य-विषयक सामान्य ज्ञान का पता चलता है, परन्तु यह नहीं जाना जाता कि इनमें वास्तविक कलासमीक्षा कितनी है। उन्नीसवीं शताब्दी के विलायत के साहित्यिक समाज में डॉक्टर जानसन का विनोदपूर्ण पाण्डित्य विशेष प्रख्यात है। एक बार जब वे अपनी साहित्यिक मण्डली मे बैठे थे, तब कोई महत्त्वाकांक्षी महानुभाव वहाँ अपने साहित्य-ज्ञान का परिचय देने पहुँचे। आपने बड़े तपाक से कहा, 'महाशयगण, शेक्सपियर की कविता बहुत अच्छी है।' डॉक्टर जानसन की मण्डली के लोग आगन्तुक की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने समझा कि शायद ये शेक्सपियर के बारे में कुछ और बाते कहेंगे, परन्तु आगन्तुक महाशय इससे अधिक कुछ जानते ही न थे। उनकी तो सारी समीक्षा बस यहीं समाप्त होती थी। डॉक्टर जानसन से न रहा गया। बोले—"शायद इनकी खोपड़ी की जाँच करने की ज़रूरत है।" हमारे हिन्दी-समाज का मस्तिष्क यद्यपि उक्त महानुभाव का-सा विलक्षण नहीं था, परन्तु यहाँ भी साहित्य-समीक्षा की गाडी 'सूर-ससी', 'उडुगन', 'जड़िया' और 'गढ़िया' आदि के दलदल मे ही अटक रही थी, आगे नहीं बढ़ रही थी।

जब संस्कृत की साहित्यिक रीति हिन्दी मे आई, तब तो साहित्य-समीक्षा और भी विचित्र हो गई। कवियों ने काव्य के गुणों और दोषो के उदाहरण अपनी ही कविता मे दिखाने आरम्भ किये। यह न उनका अहङ्कार था, न उनकी विनयिता, यह एक प्रकार की अन्ध-परम्परा बन गई थी। श्रीपति नाम के एक कवि ने दोष दिखाने के लिए कविवर केशवदास की कविता के उदाहरण लिये जिससे काव्य-सम्बन्धी उनके विवेक का—किन्तु इससे भी अधिक उनकी स्वतन्त्र बुद्धि का—थोड़ा-बहुत परिचय मिला। परन्तु परम्परा को वे भी न बदल सके। बिहारी की सतसई की उस काल मे अनेकानेक टीकाएँ की गईं जिससे यह अनुमान हो सकता है कि उनकी कविता की ओर साहित्यिक समाज की अधिक रुचि थी; किन्तु वह रुचि भी रीतिबद्ध हो रही थी, वास्तविक जीवन से दूर हट आई थी। कविता के संग्रह-ग्रन्थ—'हजारा' आदि—भी लोगोंने निकाले, पर उनमें भी सङ्कलन का कोई उत्तम क्रम नहीं दिखाई देता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पिछले कई सौ वर्षों से साहित्यालोचन का कोई सम्यक् मार्ग प्रशस्त नहीं किया गया और यदि कुछ साहित्य-पारखियों मे वास्तविक जानकारी रह गई थी तो वह केवल बीज रूप में थी।

कविता का अलङ्कार उनकी सरलता और सामयिकता है। हृदय के निष्कपट उद्गार—चाहे वे रूखे उद्गार ही हों—उसमें भरे हैं। ब्रज-भाषा की शृङ्गारिक कविता से विरक्त हो जाने के कारण समाज में इस नवीन काव्य-साधना का अच्छा सत्कार किया गया। कहीं-कहीं छोटी-छोटी रचनाओं में भी बड़े ही मधुर भाव भरे मिलते हैं। कविता का चोला बदल गया।

कविता और साहित्य के विषय में द्विवेदी जी के विचार जानने की इच्छा बहुतों को होगी, परन्तु वे उनके फुटकर निबन्धों को पढ़ कर कोई निश्चित धारणा नहीं बना सकेंगे। यह एक बात प्रत्यक्ष है कि उन्होंने सामयिक और लोक-हितैषी विचारों के पक्ष में शक्तिशाली प्रेरणा उत्पन्न की। कुमारसम्भव के आदि के ही पाँच सर्गों का सार प्रकाशित करके उन्होंने अतिशय शृङ्गारिकता से हिन्दी को बचाने का प्रयत्न किया। जब 'हिन्दी-नवरत्न' में मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी के नौ सर्वोत्तम कवियों की श्रेणी-शृङ्खला तैयार की और उन पर अपने विचार प्रकट किये, तब लोगों को हिन्दी-कवियों के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की राय जानने का अवसर मिला। 'हिन्दी-नवरत्न' की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने सब से पहले यह प्रदर्शित किया कि कवियों के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय करने की एक व्यवस्था, एक क्रम होना चाहिए। किन्तु व्यवस्था क्या हो और क्रम कैसा हो इस पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा। यह अवश्य देखने में आया कि द्विवेदी जी ने सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की एक कोटि बना दी, देव आदि को अलग स्थान दिया और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को इन सब से पृथक् रखने की सम्मति दी। यहाँ, यह नहीं स्पष्ट हुआ कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को किस विशेष श्रेणी में रखने की उन्होंने सिफारिश की और किस आधार पर, किन्तु इससे भारतेन्दु के प्रति द्विवेदी जी की अगाध श्रद्धा अवश्य प्रकट हुई। गद्य का नवीन उत्थान ही द्विवेदी जी का [illegible] था। अतः नव साहित्य का निर्माण करने वाले प्रथम महापुरुष होने के कारण हरिश्चन्द्र को द्विवेदी जी ने नवरत्न के कवियों से अधिक उच्च आसन का अधिकारी समझा। यह [illegible] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र [illegible] के यशस्वी [illegible] थे और द्विवेदी जी भी [illegible] पथ के पथिक थे। सम्भव है भारतेन्दु के प्रति इनकी श्रद्धा [illegible] हो।

के साथ नवोदिता 'सरस्वती' मे बुला लिये गये थे। 'नवरत्न' की परीक्षा करते हुए इन्होंने साहित्य और कविता-सम्बन्धी अपने जो विचार 'सरस्वती' मे प्रकट किये, उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। अत. यहाँ उन्हे दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

द्विवेदी जी ने सस्कृत अथवा अङ्गरेजी आदि के साहित्यिक सिद्धान्तों का अनुसरण करके अपने विचार नहीं प्रकट किये, यह कहना ही मानो साहित्य-सरणी मे उनकी गति जान लेना है। वे हिन्दी का साहित्य-शास्त्र लिखने नहीं बैठे थे। स्टील, एडिसन, जानसन, लैम्ब, हेज़लिट या हमारे देश के रवीन्द्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से 'परिचित नहीं थे। उन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया। यहाँ हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्टील, जानसन, रवीन्द्र आदि की समीक्षा की तुलना करे। परन्तु इतनी समता तो सब मे है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अकित कर गये है। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवीन्द्रनाथ को कविता के निगूढ रहस्यमय अत.पट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी मे नहीं मिलती; न इन्हे कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि बाबू के साथ रहती है। परन्तु इन प्रदेशो के निस्सपन्न, कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्त्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमे न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि; केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल, उदात्त भावो का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता मे व्यग्य है, सात्विकता मे विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई, कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे कपास की ही खेती की—'निरस विसद गुनमय फल जासू।'

फलतः लोगों मे साहित्य-विषय की जानकारी अच्छी बढी और द्विवेदी जी के विचारो का अनुकरण भी होने लगा। प्राचीन हिन्दी से भी अधिक संस्कृत की ओर द्विवेदी जी की रुचि थी। जनता मे भी 'सरस्वती' द्वारा उस रुचि का प्रवेश हुआ। कविता की अन्तरङ्ग शोभा की अपेक्षा भाव-विन्यास का चमत्कार 'सरस्वती' के पाठकों को अधिक भेट किया जाता था। तदनुसार हिन्दी के उस काल के कवि भी चमत्कार की खोज करने लगे और समीक्षक भी उस पर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। द्विवेदी-काल

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविवर देव के सुन्दर पदों का संग्रह प्रकाशित कर अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया, परन्तु इतना प्रकाश पर्याप्त नहीं था। उन्होंने कवियों के सम्मेलन की भी नये सिरे से प्रतिष्ठा की जिसमें केवल लोकरुचि को आकर्षित करना ही अभीष्ट नहीं था, बल्कि पारस्परिक विचार-विनिमय से नई सूझ तथा साहित्य-विषयक स्वच्छ, सूक्ष्म दृष्टि के भी उदय होने की शुभाशंसा थी। परन्तु भारतेन्दु के अस्त होते ही ये कवि सम्मेलन अपना वह पूर्व लक्ष्य भूल गये, और बाद में तो उनका बहुत ही विकृत रूप हो गया। सम्मेलनों की साहित्य-समीक्षा केवल कवित्त सुनाने में रह गई। रात-रात भर यही देखा जाता था कि कौन किस तर्ज़ से, किस रस के, कितने कवित्त सुना सकता है। आगे चल कर इसने जलसे का रूप धारण किया और स्कूलों, कॉलेजों तक में इसका सिक्का जमने लगा। पुरस्कार बँटने लगे, इनाम मिलने लगे। गलेबाज़ी दिखाने का शौक चढ़ा। कविता-सम्मेलन नहीं रहे। सङ्गीत-सम्मेलन और ताली-सम्मेलन बन गये। इन्हें परिहास सम्मेलन भी समझ सकते हैं। लक्ष्य भ्रष्ट हो गया।

इस समय तक मेकाले साहब की डाली हुई अङ्गरेज़ी शिक्षा की नींव हमारे प्रान्तों में भी पड़ चुकी थी। लोग अङ्गरेज़ी की समीक्षा-शैली से भी परिचित हो रहे थे। संस्कृत, प्राकृत और देश-भाषाओं के अभ्यासी कतिपय विदेशी विद्वान और उनके हिन्दुस्तानी शिष्य क्षेत्र में आने लगे थे। सभा-गोष्ठियाँ यद्यपि पहले भी थीं, परन्तु एकदम नवीन उत्साह और उत्तरदायित्व लेकर अङ्गरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त तीन नवयुवकों ने काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की जिसे समय ने देश की एक प्रमुख साहित्यिक संस्था सिद्ध कर दिया है। यद्यपि पत्र-पत्रिकाएँ भी हिन्दी में निकल रही थीं, परन्तु नवीन रुचि के अनुसार नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभा की ओर से 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। ऐसे ही अवसर पर डॉक्टर ग्रियर्सन महोदय ने, जो भारतीय भाषाओं के सम्राट पण्डित माने गये हैं, हिन्दी-साहित्य के कतिपय कवियों की जीवनी और प्रशंसात्मक समीक्षा अङ्गरेज़ी में लिखी। इनमें तुलसीदास को उन्होंने एशिया के उत्कृष्ट कवियों में स्थान दिया जिससे हिन्दी के अङ्गरेज़ीदाँ विद्वानों में एक अच्छी खलबली-सी मची और एक नवीन उत्साह सा देख पड़ा। 'नवरत्न' नामक हिन्दी-कवियों का समीक्षा-ग्रंथ इसी उत्साह-काल में प्रकट हुआ। इसमें केवल डॉक्टर ग्रियर्सन के ही विचारों की पुष्टि नहीं की गई; बल्कि कुछ-कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी दिखाई पड़ीं। परन्तु इसके कुछ पहले ही पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, उर्दू और अङ्गरेज़ी की अपनी बहुज्ञ

अपनी सत्यनृत्ति के कारण चिरस्मरणीय अवश्य होगा। वह कला धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करती है, परन्तु जो कला उदात्त और प्रशस्त न होती हुई भी समय और समाज के अन्धकार मे आलोक की दीपशिखा दिखा कर प्रकाश की व्यवस्था करती है, वह भी अपना अलग महत्त्व रखती है। द्विवेदी जी का ऐसा ही साहित्यिक आदर्श था।

साहित्य और कविता से भी अधिक द्विवेदी जी ने भाषा, व्याकरण और पद-प्रयोगो पर विचार किया। 'प्राचीन कवियो की दोषोद्भावना' निबन्ध मे उन्होने स्पष्ट-कथन की आवश्यकता दिखाते हुए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, अरविंद घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चिपलूणकर आदि के जो प्रमाण दिये, हिन्दी मे उनका भरपूर निर्वाह करने वाले उस काल मे स्वयं द्विवेदी जी ही थे। 'नवरत्न' की आलोचना का अधिकाश भाषा-सस्कार के विषय का है। उस समय द्विवेदी जी स्पष्ट-कथन के बदले अप्रिय-कथन भी कह देते थे और व्यंग्य भी उन्हे अप्रिय नही थे। उनके सघटन मे व्यग्य का एक विशेष स्थान हो गया था। कई बार उनसे और हिन्दी के अन्य विद्वानो से तर्क-वितर्क भी हुआ। यहाँ उन प्रसगो का कोई प्रयोजन नहीं। उन अस्थायी अप्रिय घटनाओं से हमारी भाषा की वैसे ही एक स्थायी सुष्ठु विशेषता बन गई, जैसे कीचड़ से कमल निकलता है।

'हिन्दी-नवरत्न' तो एक उदाहरणमात्र है। लाला सीताराम-कृत कालिदास के हिन्दी-पद्यानुवादो पर द्विवेदी जी की ओर भी तीव्र दृष्टि पड़ी थी। 'भारतमित्र' के बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित गोविन्दनारायण मिश्र और द्विवेदी जी का भाषा-सम्बन्धी विवाद कई कोटियो तक चला। फिर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' मे 'पुस्तक-परिचय' का एक स्थायी स्तम्भ ही बना लिया था और प्रति-मास नवीन प्रकाशित पुस्तको के साधारण गुण-दोष-विवेचन के साथ प्रमुख रूप से भाषा की अशुद्धियाँ दिखाने लगे थे। शब्दों के व्यवहार के सम्बन्ध मे द्विवेदी जी का मध्यम मार्ग मानना चाहिए। जैसा कि 'अनस्थिरता' वाले विवाद से प्रकट भी हुआ, द्विवेदी जी हिन्दी की एक नई चलन अवश्य चाहते थे, यद्यपि उस चलन मे भी एक व्यवस्था थी। सस्कृत से हिन्दी का साधारण व्यावहारिक सम्बन्ध भी उन्हे इष्ट था। सस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिन्दी 'मृदुता' के पक्षपाती थे; परन्तु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छन्दता माँगी जाती तो वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ', 'श्रेष्ठतर', 'श्रेष्ठतम' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' उन्हे नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिन्दी में अपना

की इस अभिरुचि का पूर्ण परिपाक आगे चल कर बाबू मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' महाकाव्य में हुआ जिसमें कथनोपकथन का चमत्कार—जिसे सभा-चातुरी कह सकते हैं—विशेष मात्रा में रखा गया। समीक्षा में उसका परिपाक लमगोड़ा जी की तुलसीदास समीक्षा में समझना चाहिए जिसमें एक-एक पंक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया गया, पर काव्य की सघटित शोभा नहीं देख पड़ी। द्विवेदी-युग की मनोवृत्ति के वृक्ष पर ये जो दो फूल फूले हैं, इनकी श्री-शोभा स्वयं द्विवेदी जी को मुग्ध कर चुकी है। इनके अतिरिक्त साहित्य के प्रायः प्रत्येक विभाग में कतिपय कृतविद्य लेखक और कवि कार्य कर रहे हैं जिनकी कृतियाँ अब भी द्विवेदी जी के आशीर्वचन से अलंकृत हो रही हैं।

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचन्द जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला-फला। अपनी विशेषताओं और त्रुटियों से समन्वित इस आदर्शवाद की महिमा हमें स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य में गत के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह जब उसकी साहित्य-रचना का नियन्त्रण करने लगता है, तब साहित्य में आदर्शवाद का युग आता है। कभी-कभी समाज की कुछ विशेष रीतियों का समर्थन करने वाला यह आदर्शवाद उक्त समाज की बहुजनमान्यता का ही एकमात्र आश्रय लेकर बुद्धि-जन्य संस्कार का त्याग कर देता है और केवल उन प्रथाओं के प्रचार की पद्धति पकड़ लेता है। कभी यह आदर्शवाद वीर-पूजा की प्रवृत्ति पर प्रतिष्ठित होकर महत् चरित्रों का आविर्भाव करता है। आदर्शवादी कभी—जैसे रामचरितमानस में—प्रतिस्पर्द्धी पात्रों के काले पट पर ईप्सितनायक का उज्ज्वल चित्र अंकित करते हैं, और कभी—जैसे कतिपय आधुनिक पाश्चात्य उपन्यासों में—स्वयं नायक के ही उत्तरोत्तर विकास में अपना आदर्शवाद निहित रखते हैं। इसकी कोई निश्चित प्रणाली नहीं है, तथापि आशामय वातावरण का आलोक, उत्साह और उदात्त कार्य आदर्शवादी कृतियों में देखे और पहचाने जा सकते हैं। द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि संक्षेप में कहा जाय तो, समाज में एक सात्त्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का साथ देना, शृंगार के विलास-वैभव का निषेध ये सब द्विवेदी-युग के आदर्श हैं। स्वतन्त्रता की राष्ट्रीय भावना जो अर्गलों के आतंक में छूट नहीं पाई थी द्विवेदी युग की [illegible] है। इन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अपनी कलात्मक पूर्णता का अवलम्ब लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परन्तु

द्विवेदी जी की लेख-शैली का भविष्य अब तक यथोचित प्रकाश मे नही आया है। हिन्दी-प्रदेश की जनता ने उसे अपने समाचार-पत्रो की भाषा मे अच्छी मात्रा मे अपना लिया है और हिन्दी के प्लेटफार्म पर भी उसकी तूती बोलने लगी है। इसका अर्थ यही है कि हिन्दी-जनता के श्रवणो को यह अच्छी लगी है और उसने समूह रूप से उसका सत्कार किया है। यह सामूहिक सत्कार शैली के भविष्य के लिए बहुत बड़े द्वार का उद्घाटन कर देता है और उसकी सम्भावनाएँ बहुत बढ जाती है। अभी द्विवेदी जी की भाषा-शैली को गुम्फित विचार-राशि के वहन करने का यथेष्ट अवसर नही प्राप्त हुआ है—अभी विचारो का तार हिन्दी मे बँधा नही है। परन्तु इस युग के तीक्ष्ण, सश्लिष्ट विचारो का प्रकाशन—चाहे वह समाचार-पत्रो द्वारा हो, चाहे सामयिक पुस्तकों-द्वारा—अब अधिक काल तक समय की बाट नहीं जोह सकता। जब कभी वह अवसर आवेगा, (हम समझते हैं कि शीघ्र ही आवेगा), तब द्विवेदी जी की भाषा का चमत्कार देखने को मिलेगा। वह सरल, रूक्ष अभिव्यक्ति, जिसके गर्भ से गहन विचारो की परम्परा फूट निकलेगी, हिन्दी के क्षेत्र मे एक दर्शनीय वस्तु होगी। व्यावहारिक, राजनीतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक विवेचन और देशव्यापी विचार-विनिमय जब खड़ी बोली का आधार लेकर चलने लगेंगे, तब द्विवेदी जी की भाषा को भली-भाँति फूलने-फलने का मौका मिलेगा। कविता और अलकृत गद्य तब भी रहेंगे, मयूर-पङ्ख की लचकीली लेखनी तब भी उपयोग मे आवेगी, बहुत-सी नवीन शैलियो से हमारा अनुरञ्जन तब भी होगा। किन्तु देश की जो व्यापक सामाजिक भाषा हमारे सामूहिक जीवन मे सर्वत्र अभिज्ञता की लहर उत्पन्न करेगी, जो हमारे व्यवस्थापको, व्यापारियो और वोट देनेवालों की, जो हमारी नित्य-प्रति की दुनियादारी की भाषा होगी वह पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा का ही विकसित रूप होगी, इसमे सन्देह करने की अधिक जगह नहीं है।

द्विवेदी जी की भाषा-शैली बहुत कुछ उनकी परिस्थिति की उपज है। जब वे 'सरस्वती' मे सम्पादकीय कार्य करने आये, तब देश मे एक ऐसी विचित्र बहुज्ञता का बाज़ार गर्म हो रहा था जो इसके पहले देखी सुनी नहीं गई थी। स्कूलो के विद्यार्थी भी इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, अँगरेजी, उर्दू, फारसी, संस्कृत आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे, और कॉलेजो मे तो इतने शास्त्र पढ़ाये जा रहे थे जितने स्वय शुकदेव मुनि ने भी न पढे होंगे। यद्यपि यह बहुत ही छिछली शिक्षा थी, परन्तु इससे जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ, वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय मे पाण्डित्य न हो, परन्तु एक अभिज्ञता, जो कभी व्यर्थ नहीं जाती,

लिया गया हो, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं; परन्तु इसके आगे वे प्रायः नहीं बढ़ते। भाषा के संस्कार की रक्षा वे चाहते थे, अतः ग्रामीण एकदेशीय शब्दों का प्रयोग भर-सक नहीं करते थे। तथापि शुद्ध संस्कृत के वाक्य-विन्यास के साथ-साथ सलीस उर्दू में मुहावरेबाजी दिखा देने का भी उन्हें पहले शौक था। यह उनके आरम्भ और मध्यकाल की गद्य शैली की बात है। पद्य में और अपने प्रौढ़काल के गद्य में द्विवेदी जी की वही टकसाली हिन्दी—न संस्कृत और न उर्दू—की पद-रचना चलती रही। वही भाषा जो उन दिनों हिन्दी के पठित समाज का—काशी, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ देहली आदि के बोलचाल की—भाषा बनी हुई है और जिसमें सैकड़ों साहित्यिक पुस्तकें प्रति वर्ष प्रकाशित हो रही हैं।

अधिक से अधिक इंगित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुन्दर प्रयोग विचार [illegible] लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है, व्याकरण की व्यवस्था [illegible] की पहली सीढ़ी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसङ्गानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो शब्द के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है। उसमें [illegible] बोध नहीं होती। सार्थक पद विन्यास केवल निघण्टु का विषय नहीं है, उसमें हमारी कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर [illegible] उल्लसित कर देती है। पदों का सुन्दर प्रयोग वह है जो सङ्गीत (उच्चारण) [illegible] आदि सबसे अनुमोदित हो और सब की सहायता से सङ्गठित हो जिससे [illegible] के अनुरूप चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्य विन्यास का [illegible] लगे। अभी तो हिन्दी के समीक्षा क्षेत्र में [illegible] शैली समझ लेने की भ्रान्त धारणा [illegible] शैलियों का कुछ गम्भीर अध्ययन आरम्भ होगा तो द्विवेदी जी की [illegible] और उनके [illegible] के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली

बन्द कर दिया। ऐसा उनका पारस्परिक सम्बन्ध था। बहुत-से लेखक 'सरस्वती' से आकृष्ट होकर स्वय ही उसमे आये। इन सब का इतना नियमित संघटन हो गया कि 'सरस्वती' को दूसरे लेखकों की आवश्यकता ही न रही। जो 'सरस्वती' के लेखक थे वे दूसरी पत्रिकाओं मे लिखने की चाह नही रखते थे—प्रायः नहीं ही लिखते थे। दूसरे लेखकों के लेख बहुधा अस्वीकृत होकर लौट भी जाते थे। लेखकों की संख्या इतनी बढ़ रही थी कि सब लेख छप भी नहीं सकते थे। द्विवेदी जी के निजी सिद्धान्त भी अनेक लेखों के छपने मे बाधक हुए होंगे।

द्विवेदी जी सिद्धान्तवादी सम्पादक थे। यद्यपि लोकरुचि और लोकमत का उन्हे ध्यान था, परन्तु अपने सिद्धान्तो का अधिक ध्यान था। वे 'सरस्वती' के लेखकों का सुचारु सघटन कर चुके थे और उनकी सहायता से अपने मनोनुकूल विषयो की विवृत्ति करते रहते थे। सस्कृत-साहित्य, प्राचीन अनुसन्धान, इतिहास, जीवन-चरित, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, हिन्दी का प्रचार आदि विषयो से 'सरस्वती' का प्रायः प्रत्येक अङ्क विभूषित रहता था। प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर भी टिप्पणियाँ रहती थीं। यदि हम इस कसौटी पर 'सरस्वती' की समीक्षा करे कि उसके द्वारा अँगरेज़ी अथवा दूसरी प्रान्तीय भाषाएँ न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक ससार की गति से परिचित हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा ले कि जो पाठक 'सरस्वती' की ही सहायता से अपनी विद्या-बुद्धि और मति-गति निर्माण करते थे, वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप मे दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ ले। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि 'सरस्वती' की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा मे उन्नत थी और उसके पाठकों को (सम्भवतः कविता को छोड़कर) किसी विषय मे संकुचित होने का कुछ भी अवसर नहीं था। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो 'सरस्वती' अपने समय की हिन्दी जनता की विद्या-बुद्धि की माप-रेखा थी और वह अपने देश की अन्य भाषाओं की पत्रिकाओं से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में तो द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी। यह उनके उत्कट अध्ययन और चयन शक्ति का द्योतन करता है कि वे प्रतिमास मराठी, गुजराती, उर्दू, बगला और अँगरेज़ी पत्रों की उल्लेखनीय टिप्पणियां 'सरस्वती' मे उद्धृत करते थे।

'सरस्वती' विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका अधिक थी, परन्तु द्विवेदी जी ने उसे व्यक्तिगत प्रचार (प्रोपेगैंडा) का साधन नहीं बनाया। अवश्य वह उनके व्यक्तिगत

सञ्चित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज में सर्वत्र देखी जाती थी, अतः उसकी तृप्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र पत्रिकाएँ ऑंगरेज़ी में निकलतीं, उनमें यद्यपि आवश्यक विषय वैचित्र्य था, किन्तु जनता तक उनकी पहुँच नहीं थी। देशी भाषाओं की पत्रिकाएँ भी अब ऐसी निकलीं जिनकी सबसे स्पष्ट विशेषता बहुविध विषय-विन्यास ही हुई। हिन्दी में अब तक कितने ही वृत्तपत्र निकल चुके थे; परन्तु उनमें प्रायः किसी एक विषय की ही प्रधानता रहती थी और उनकी भाषा सम्पादक की मनोभिलाषा की उपज होती थी। भारतेन्दु-काल के हिन्दी-पत्र ऐसे ही थे जिनमें सम्पादक अपने पसन्द के विषयों पर अपनी पसन्द की भाषा में ऐसे लेख लिखते थे जो एक बँधे हुए घेरे तक ही पहुँच पाते थे। अब वह समय आ गया था जब सम्पादक जन-समाज का स्वेच्छाशिक्षक बन कर ही काम नहीं कर सकता। उसे अपना व्याख्यान आरम्भ करने के पहले जनता की रुचि भी समझ लेनी पड़ेगी। अब सम्पादक महोदय जो भाषा लिखेंगे, उस पर हजारों पाठकों की दृष्टि पड़ेगी। जिस विषय पर वे विचार करेंगे, उस पर और लोग भी विचार करेंगे। जब तक एक ही विषय की प्रधानता रखकर पत्र निकलते रहे, तब तक भाषा-अलङ्करण की बहुत कुछ सुविधा थी। पण्डित बदरी नारायण चौधरी जैसे रसिक व्यक्तियों को छोड़कर, जो राजनैतिक टिप्पणियों में भी साहित्यिक छटा छलकाने की चाह रखते थे, जिन्हें उन विषयों की वास्तविकता से मतलब था, वे ऐसी उधेड़बुन पसन्द नहीं कर सकते थे। व्यावहारिक दृष्टि से भी सम्पादक के लिए यह असम्भव हो चला था कि वह विभिन्न विषयों का विवेचन करता हुआ उनमें कविता की कलाबाजी दिखाने की चेष्टा भी किया करे।

'सरस्वती' आरम्भ में ही विविध विषयों की पत्रिका बनकर निकली और निकलते ही वह हिन्दी का हृदयहार बन गई। उसका कलेवर उज्ज्वल-वसन और निरलङ्कार था वैसा ही उसका अन्तस् भी स्वच्छ, सरल और निरलस था। उसके निश्छल विचार थे, स्पष्ट, स्फुट भाव थी। उसमें विद्या थी, किन्तु विद्या का प्रदर्शन न था। कठिन परिश्रम था, उलझन न था, सरलता था, विलास न था। ऐसी वह हिन्दी-जनता की 'सरस्वती' शीघ्र ही सर्वश्रेष्ठ पत्रिका बन गई। द्विवेदी जी जब उसके सम्पादक हुए, तब उन्होंने सरस्वती की बहुमुखी आकांक्षाओं के अनुरूप विविध विषयों के विशिष्ट लेखक तैयार किये। उन्हें हिन्दी में लिखने की प्रेरणा की। उनकी हिन्दी सुधार संसार का प्रकाशित की। आज उनमें से अधिकतर लेखक इन प्रान्तों के प्रसिद्ध पण्डित, अध्यापक और विचारशील कहे जाते हैं। उनमें से कुछ ने तो द्विवेदी जी से 'सरस्वती' छोड़ने पर हिन्दी में लिखना ही

बन्द कर दिया। ऐसा उनका पारस्परिक सम्बन्ध था। बहुत-से लेखक 'सरस्वती' से आकृष्ट होकर स्वयं ही उससे आये। इन सब का इतना नियमित संघटन हो गया कि 'सरस्वती' को दूसरे लेखकों की आवश्यकता ही न रही। जो 'सरस्वती' के लेखक थे, वे दूसरी पत्रिकाओं में लिखने की चाह नहीं रखते थे—प्रायः नहीं ही लिखते थे। दूसरे लेखकों के लेख बहुधा अस्वीकृत होकर लौट भी जाते थे। लेखकों की संख्या इतनी बढ़ रही थी कि सब लेख छप भी नहीं सकते थे। द्विवेदी जी के निजी सिद्धान्त भी अनेक लेखों के छपने में बाधक हुए होंगे।

द्विवेदी जी सिद्धान्तवादी सम्पादक थे। यद्यपि लोकरुचि और लोकमत का उन्हें ध्यान था, परन्तु अपने सिद्धान्तों का अधिक ध्यान था। वे 'सरस्वती' के लेखकों का सुचारु संघटन कर चुके थे और उनकी सहायता से अपने मनोनुकूल विषयों की विवृत्ति करते रहते थे। संस्कृत-साहित्य, प्राचीन अनुसन्धान, इतिहास, जीवन-चरित, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, हिन्दी का प्रचार आदि विषयों से 'सरस्वती' का प्रायः प्रत्येक अङ्क विभूषित रहता था। प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर भी टिप्पणियाँ रहती थीं। यदि हम इस कसौटी पर 'सरस्वती' की समीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेज़ी अथवा दूसरी प्रान्तीय भाषाएँ न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक 'सरस्वती' की ही सहायता से अपनी विद्या-बुद्धि और मति-गति निर्माण करते थे, वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि 'सरस्वती' की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को (सम्भवतः कविता को छोड़कर) किसी विषय में संकुचित होने का कुछ भी अवसर नहीं था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'सरस्वती' अपने समय की हिन्दी-जनता की विद्या-बुद्धि की माप-रेखा थी और वह अपने देश की अन्य भाषाओं की पत्रिकाओं से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में तो द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी। यह उनके उत्कट अध्ययन और चयन शक्ति का द्योतक करता है कि वे प्रतिमास मराठी, गुजराती, उर्दू, बंगला और अँगरेज़ी पत्रों की उल्लेखनीय टिप्पणियाँ 'सरस्वती' में उद्धृत करते थे।

'सरस्वती' विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका अधिक थी, परन्तु द्विवेदी जी ने उसे व्यक्तिगत प्रचार (प्रोपेगैंडा) का साधन नहीं बनाया। अवश्य ही उनके व्यक्तिगत

विचारों का प्रचार भी करती रही अवश्य उसने अपनी एक परिधि भी बना ली, जिसके अन्दर प्रतिस्पर्द्धी लेखकों का प्रवेश-निषेध था। अपने स्थायी लेखकों के विषय में कोई अन्यथा बात अपनी पत्रिका में छापना द्विवेदी जी को इष्ट न था। इन कारणों से हिंदी में कतिपय अन्य पत्रिकाएँ भी निकाली गईं, परन्तु इनमें से किसी को 'सरस्वती' का सा स्थायित्व न मिला। वह गुण जो 'सरस्वती' की स्थायी सफलता का मुख्य हेतु बना, द्विवेदी जी का विलक्षण अध्यवसाय था। वे कठिन परिश्रम करके प्रत्येक लेखक की भाषा को अपनी शैली के साँचे में ढालते थे और इस क्रिया में लेखों का कायापलट कर देते थे। 'सरस्वती' की भाषा में जो अधिकांश एकरूपता है, वह इसी क्रिया का परिणाम है। 'सरस्वती' में रहते हुए नवयुवक लेखकों को भी विमुख न करके उनकी कृतियाँ सुधारकर छापने में द्विवेदी जी को कई-कई महीने लग जाते थे। पत्रिका को शुद्ध रूप में ठीक समय पर निकाल देना वे अपना सम्पादकीय कर्त्तव्य समझते थे, और यह सम्पादकीय कर्त्तव्य कर चुकने के बाद वे प्रति मास उसकी ग्राहक-संख्या और आय व्यय का हिसाब भी जाँचते रहते थे।

ऐसे उद्योगी और कार्य कुशल व्यक्ति का उन्नति के उच्च आसन पर पहुँच जाना आश्चर्य की बात नहीं है। किसी को यह देख कर विस्मय नहीं हुआ कि द्विवेदी जी ने अनेक वर्षों तक 'सरस्वती' की सेवा करते हुए हिन्दी के बहुजन-समाज पर साहित्यिक अनुशासन किया। बहुत दिनों से वे हिन्दी के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के कानपुर के अधिवेशन में वे स्वागत कारिणी के प्रधान थे। पिछले कई वर्षों से सम्मेलन उन्हें अपने वार्षिक अधिवेशन का सभापति बना कर गौरव प्राप्त करना चाहता है, परन्तु अस्वस्थता आदि कारणों से द्विवेदी जी यह पद अस्वीकार करते आ रहे हैं। अब तो उक्त पद से द्विवेदी जी की उतनी शोभा नहीं, जितनी द्विवेदी जी से उस पद की शोभा हो सकती है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी का बहुमूल्य सहयोग भाँति भाँति से प्राप्त हुआ है जिसके लिए सभा उनकी कृतज्ञ रहेगी। सभा को अपने विद्या वैभव और कार्य की सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उसे अपनी कठिन कमाई की अमूल्य सम्पत्ति, सहस्रों पुस्तकें और 'द्विवेदी-पदक' की निधि के रूप में प्रदान की है। परन्तु इन सब से कहीं अधिक साहित्यिक महत्त्व की वस्तु जिसके लिए सभा उनकी चिरऋणी रहेगी, उन लेखों की मूल प्रतियाँ हैं जो 'सरस्वती' में छपे थे और जिनमें द्विवेदी जी के सुधार के स्वर्णाक्षर अनोखी दीप्ति से चमक रहे हैं। ये वे लेख हैं जो हिन्दी की सम्पादन-कला और भाषा-शैली के विकास के इतिहास में स्मरणीय

रहेंगे। हिन्दी के स्थायी कला-भवन मे द्विवेदी-युग की यह स्मरणीय धरोहर रहेगी और आदर पूर्वक देखी जायगी। काशी-विश्वविद्यालय को भी द्विवेदी जी ने कई सहस्र रुपये दिये है जो उनके समान श्रमजीवी पुरुष के आजीवन अर्जित धन का बृहदंश है। द्विवेदी जी के ये दान—वृद्धावस्था की लकडी का सहारा भी छोड देना—आत्मोत्सर्ग की सीढियाँ हैं जिन्हे भविष्य की सन्तान सादर स्मरण रक्खेगी।

हमारे साहित्य मे 'द्विवेदी-युग' अब समाप्त हो रहा है, यद्यपि उनके नाम का जादू अब भी काम कर रहा है और उनके अनुयायी अब भी क्रियाशील है। परन्तु संप्रति एक नवीन लहर उठ रही है जिसके सामने प्राचीन प्रगति स्वभावतः अपना आकर्षण खोने लगी है। वह सरल शुभ्र आदर्श और वह प्राजल व्यवस्था आज एक व्यापक अविश्वास और शक्तिपूर्ण अराजकता में विलीन-सी हो रही है। साहित्य का कोई एक मार्ग नही रह गया—चतुर्दिक् आक्राति की सूचना मिल रही है। आधुनिक मस्तिष्क किसी एक दिशा मे काम करने को तैयार नही, सब दिशाएँ छान डालने का उद्योग कर रहा है। कोई कह नही सकता कि विचारो के क्षेत्र मे विस्तार हो रहा है या विशृङ्खलता बढ़ रही है। बहुत से दुर्बलमस्तिष्क क्षीणबुद्धि व्यक्तियों के बीच थोडे-से सच्चे विचारवान् साहित्यसेवी भी नवीन उत्थान का साथ दे रहे हैं, परन्तु अभी इसकी गति-विधि निरूपित नहीं हुई है। प्रतिभा का एक नवीन उन्मेष देख पडता है; परन्तु नवीन साहित्यिक आकाक्षा अब तक प्रकट नहीं हुई है।

खड़ी बोली के नवीन उत्थान की तुलना में प्राचीन ही कही जायगी। हम उस ब्रजभाषा की चर्चा कर रहे हैं जो सारे उत्तर भारत पर एक छत्र शासन कर चुकी है और देश के कोने-कोने तक अपनी कीर्ति-कौमुदी का प्रसार कर चुकी है। यहाँ ब्रज की प्रादेशिक बोली से हमारा अभिप्राय नहीं है। अस्तु, इन द्विविध मतों में से रत्नाकर जी दूसरे मत के अनुगामी थे। यद्यपि आरम्भिक जीवन में उन्होंने अङ्गरेजी कवि 'पोप' के "समालोचनादर्श" को ब्रजभाषा-पद्य में अवतरित करने की चेष्टा की थी, किन्तु अपनी शेष रचनाओं में उन्होंने ठीक-ठीक ब्रज की काव्य-कला का ही अनुसरण किया है।

काशी और अयोध्या में रहकर ब्रज की काव्य-कला का अनुसरण बिना गम्भीर अध्ययन के सम्भव नहीं है। रत्नाकर जी का अध्ययन बहुत विस्तृत और बहु[illegible] व्यापक था। उनके पिता बा० पुरुषोत्तमदास जी फारसी भाषा के विद्वान थे और उनके यहाँ फारसी तथा हिन्दी कवियों का जमघट लगा रहता था। बाबू हरिश्चन्द्र उनके मित्रों में से थे। बालक रत्नाकर में कविता के संस्कार इसी सत्सङ्ग से उत्पन्न हुए। एक धनिक परिवार में जन्म लेने के कारण उनके अध्ययन में सैकड़ों बाधाएँ आ सकती थीं और इसीलिए बिना विघ्न बी० ए० तक पहुँच जाना और पास कर लेना इनके लिए एक असाधारण घटना प्रतीत होती है, इसे हम उनके अध्ययन की उत्कट अभिरुचि का फल भी कह सकते हैं। यद्यपि इनको ब्रजभाषा के अनुशीलन का सुयोग कुछ दिनों बाद प्राप्त हुआ था, तथापि रत्नाकर-ग्रन्थावली के अध्ययन से प्रकट होता है कि ब्रजभाषा पर इनका अधिकार व्यापक और विस्तृत था। आरम्भ की रचनाओं में भी ब्रजभाषा का रूप शुद्ध रहा है किन्तु प्रौढ़ कृतियों में विशेष कर 'उद्धवशतक' में, रत्नाकर की भाषा [illegible] प्रस्फुटित हुआ है। संस्कृत की पदावली को इतनी [illegible] के साथ [illegible] देना साधारण काम नहीं है। यही नहीं, रत्नाकर जी ने अपनी फारसी [illegible] के भी शब्द ले-लेकर ब्रजभाषा के साँचे में ढाल दिये हैं जो एक अतिशय दुष्कर कार्य है। यदि रत्नाकर [illegible] इनकी व्यक्ति के सिवा किसी दूसरे का यह कार्य [illegible] अरबी-फारसी [illegible] भाषा को ब्रज की [illegible] पदावली में मिला। [illegible] ने इस मिश्रण कार्य में विफल होकर भाषा [illegible] [illegible] 'आबशुमार', [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] प्रयोग [illegible] और [illegible] के प्रयोग [illegible] [illegible] 'अस्तु' [illegible] शब्दों [illegible]

उम्मस' आदि दुरुह पद-जालों के रहते हुए भी उनकी भाषा क्लिष्ट और अग्राह्य नहीं हुई। फुटकर पदों और कृष्ण-काव्य में वह शुद्ध ब्रज और गङ्गावतरण में संस्कृत मिश्रित होती हुई भी किसी न किसी मार्मिक प्रयोग की शक्ति से ब्रज की माधुरी से पूरित हो गई है। दोनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

> जग सपनों सौ सब परत दिखाई तुम्हैं
> तातैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ।
> कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की
> जोई मुँह आवत सो बिवस बयात है॥
> सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि
> त्यौं ही तुम आप ही सुज्ञानी समुझात हौ।
> जोग-जोग कबहूँ न जानैं कहा जोहि जकौ
> ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ॥

(शुद्ध ब्रज)

> स्यामा सुघर अनूप रूप गुन सील सजीली।
> मण्डित मृदु मुख चन्द मन्द मुसक्यानि लजीली॥
> काम वाम अभिराम सहस सोभा सुभ धारिनि।
> साजे सकल सिंगार दिव्य हेरति हिय हारिनि॥

(संस्कृत-मिश्रित)

फारसी के अच्छे पण्डित होते हुए भी रत्नाकर जी ने बड़े संयम से काम लिया है, और न तो कहीं कठिन या अप्रचलित फारसी शब्दों का प्रयोग किया है और न कहीं नैसर्गिकता का तिरस्कार ही किया है। गोपियाँ कृष्ण के लिए दो-एक बार 'सिरताज' का प्रयोग करती हैं। पर वह उपयुक्त और व्यवहार-प्राप्त है, कठोर या खटकने वाला नहीं।

पिछले दिनों 'सूरसागर' का संपादन करते हुए रत्नाकर जी ने पद-प्रयोगों और विशेषतः विभक्ति-चिह्नों के सम्बन्ध में जो नियम बनाये थे वे उनके ब्रजभाषा अधिकार के स्पष्टतम सूचक हैं। भाषा पर इस प्रकार अनुशासन करने का अधिकार बहुत बड़े वैयाकरण ही प्राप्त कर सकते हैं। व्याकरण के साथ रत्नाकर जी का सम्बन्ध बहुत ही

श्री मैथिलीशरण गुप्त

श्री मैथिलीशरण गुप्त को आधुनिक हिन्दी का प्रथम कृती कवि कहना चाहिए। यहाँ हम काव्य-साधना की बात कर रहे हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सालाना गद्दियों के लिए जो साधनाएँ की जाती हैं, यहाँ उन पर विचार नहीं किया जा रहा है। इस प्रसङ्ग में हम उस साधना का उल्लेख कर रहे हैं, जो हिन्दी की मरुभूमि में अन्त.सलिला की भाँति बहती, शुष्क जीवन को प्रसन्न बनाती है। यह साधना कोरी भावुकता के बल पर नहीं जीती, यह एक प्रकार का कर्मयोग है जिसमें भावना का मणिकाञ्चन मेल मिला रहता है। यह जीवन का अन्तर्मुखी प्रवाह है जो संसार की आँखों के ओट ही रहना चाहता है। डॉक्टर सुहरावर्दी ने बंगाल के मुसलमानों को सचेत करते हुए कहा था कि यहाँ के हिन्दू रात रात भर सरस्वती की आराधना करके बढ़े हुए हैं, तुम्हारी तरह सो-सो कर नहीं। यहाँ हम जिस साधना का उल्लेख कर रहे हैं वह ऐसी ही है। मैथिलीशरण जी हिन्दी के इस युग के पहले कवि हैं जिन्होंने कविता की ज्योति समय, समाज और आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होंने नये काव्य-धारा की अबाध गति से हिन्दी-समाज को अभिसिञ्चित किया है। उनकी भाषा सम्बन्धिनी साधना उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त कृतियों में व्याप्त देख पड़ती है जैसा कि उनके पहले के आधुनिक किसी कवि में नहीं देख पड़ती। एक सचेतन काव्यात्मक अनुभूति के प्रकाश में उनकी रचनाएँ चमक रही हैं। गुप्त जी को इस युग का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। प्रतिनिधित्व के लिए हम विशेष आग्रह नहीं करेंगे क्योंकि स्वयम् महात्मा गांधी के प्रतिनिधित्व में शङ्का प्रकट की जाती है। परन्तु युग के विकासोन्मुख जीवन का साक्षात्कार करने और उसे वाणी का परिधान पहना कर नयनाभिराम बना देने के कारण इस युग में गुप्त जी जन-समाज के प्रथम कृती कवि कहे जाएँगे।

गुप्त जी खद्दर पहनते हैं और स्वदेशी चाल-ढाल में रहते हैं। वे विनीत और मितभाषी हैं। काशी नागरी प्रचारिणी-सभा की साहित्य-परिषद् बैठी थी। उपस्थित महि-

लाओं ने बाबू श्यामसुन्दर दास को सूचना दी कि वे मैथिलीशरण जी का आशीर्वाद सुनना चाहती हैं। बाबू साहब के बहुत कहने से वे अपनी जगह से उठ कर महिलाओं के पास गये पर उन्होंने वहाँ कोई आशीर्वाद नहीं दिया। गये और लौट आये। यह उनकी प्रकृति की बात है जो ध्यान देने योग्य है। वे जब अपने भाई सियारामशरण जी से साथ बातें करते हैं तो सदैव अपने घर की भाषा में। सरलता की ऐसी झलक हमने हिन्दी के किसी कवि में नहीं देखी। 'निराला' जी की सरलता दूसरे प्रकार की है। उसमें हम इतना संकोच, इतनी भावुकता और विनय नहीं पाते। इतनी ऐकान्तिकता और आदर्शवादिता उनमें नहीं है।

इससे उनकी काव्य-साधना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सरल ग्रामीणता उनकी सबसे प्रथम और सबसे प्रधान विशेषता है। यही उस व्यापक प्रभाव का उद्गम है जो गुप्त जी की काव्यधारा में सर्वत्र देख पड़ता है, यह कविता को लोकसामान्य भाव भूमि में लाकर प्रतिष्ठित करने का सब से बड़ा साधन है। यही सरलता साधारण में सब से [illegible] होती है, इसी केन्द्र से सच्ची शक्ति की सृष्टि होती है और नवीन काव्य-युग का निर्माण होता है। गुप्त जी जितना प्राचीन साहित्य से, प्राचीन [illegible] से प्रभावित हुए हैं उतना ही आधुनिक जीवन से भी। वीर पूजा का भाव [illegible] प्रबल है। प्राचीन कथाओं को नवीन आदर्शों का निरूपक बना कर प्रस्तुत किया।

अनुयायियो की बहुत-सी दलीलो के ऊपर पहुँच कर उसे अधिक लोक सामान्य बनाता है। गुप्त जी की संवेदनशील आदर्शवादिता कितनी प्रभावशालिनी है यह 'भारत-भारती' का प्रचार देखकर समझा जा सकता है।

गुप्त जी की आदर्शवादिता के साथ उपदेशक वृत्ति भी उनकी रचनाओ मे आदि से अंत तक देखी जाती है। 'भारत-भारती', 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' उपदेश विशिष्ट काव्य हैं। 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'त्रिपथगा' आदि में जीवन-व्यापी रूप मे आदर्श चित्र आये है, उनमे उपदेश काव्य सीमा को लांघ कर ऊपर नहीं आए। गुप्त जी का शृङ्गार अत्यन्त संयमित, उनकी नायिकाएँ प्राय. करुण मुख-श्री समन्वित हुई हैं। भारत ने बहुत दिनो से, प्रशस्त प्रेम को कर्तव्य के भार मे दबा दिया है, विशेषतः गुप्त जी के युग मे तो पारिवारिक मधुर सम्बन्ध भी विशेष शुष्क से हो गये दीखते थे। गुप्त जी की रचनाएँ युगधर्म के अनुकूल हुई है। उनकी 'सीता' (पञ्चवटी') मानो वर्तमान नागरिक-जीवन की कर्कशता से खिन्न होकर कानन-वासिनी हुई है, उनके 'लक्ष्मण' भी एकान्त-जीवन के प्रशंसक और अनुयायी हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि गुप्त जी के आदर्शवाद का उद्गम सामयिक परिस्थिति से ही हुआ है। इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने एक तीसरी प्रणाली का आश्रय भी लिया है। वह तीसरी प्रणाली अनुवादो की है।

हम यह कह चुके हैं कि 'जयद्रथ-वध', 'पञ्चवटी' आदि रचनाओं में गुप्त जी का आदर्शवाद काव्य-प्रवाह के भीतर की वस्तु है, वहाँ यह अतिशय सरस देख पड़ता है। 'गुरुकुल', 'हिन्दू' आदि मे उतनी सरसता नहीं, क्योंकि उनमे भावना को काव्य का परिच्छद नही दिया जा सका। वहाँ कवि-जीवन की सम्पूर्ण ज्योति काव्य-जीवन को नहीं मिलती। गुप्त जी के कवि-हृदय मे इसकी प्रतिक्रिया होती है और वे अनुवादो की शरण लेते है। 'विरहिणी व्रजाङ्गना', 'वीराङ्गना,' 'मेघनादवध' आदि उनके अनुवाद-ग्रन्थ इस सत्य के साक्षी हैं। परन्तु गुप्त जी की काव्य साधना से यथार्थत. परिचित होने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि एक ओर 'भारत-भारती', 'हिन्दू' आदि और दूसरी ओर 'वीराङ्गना', 'व्रजाङ्गना' आदि उनकी सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं। 'पञ्चवटी' 'जयद्रथ वध', 'यशोधरा' आदि का मध्यमार्ग ही उनकी काव्यसाधना का यथार्थ पथ है।

दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज लाहौर के हिन्दी अध्यापक श्री सूर्यकान्त शास्त्री एम० ए० अपनी 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' नाम की पुस्तक में गुप्त जी के सम्बन्ध मे काफी लम्बी चर्चा करते हैं, पर हिन्दी की सनातन प्रथा के अनुसार

ने भी उनकी दो-चार भिन्न-भिन्न कृतियों का अलग-अलग उल्लेख कर चुप हो रहते हैं। इस तरीके से कवि के मस्तिष्क और कला के क्रम-विकास का कुछ भी पता नहीं लग सकता। शास्त्री जी ने 'भारत-भारती', 'जयद्रथवध' 'मेघनादवध' और 'विरहिणी व्रजाङ्गना' के अध्ययन से ही काम निकाला है और वह अध्ययन भी किसी सम्बद्ध रूप में नहीं किया। यद्यपि शास्त्री जी की मुद्रा गम्भीर है पर उनका चिन्तन साधारण कोटि का है। उदाहरण के लिए शास्त्री जी 'भारत-भारती' के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखते हैं—

"इसमें वर्णन की गई भारत की प्राचीन दशा को पढ़ पाठक औज्ज्वल्य और अभिमान के कलधौत शिखर पर चढ़ जाता है। परन्तु वहाँ पहुँच जब वह अपनी वर्तमान पतित दशा पर दृष्टिपात करता है तब शोक तथा विस्मय से स्तिमित हो नैराश्य के गम्भीर गर्त में गिर पड़ता है।"

फिर उसके बाद आप कहते हैं—

"विरकालीन और चिरयुगीन कविताओं के साथ 'भारत भारती' की तुलना करना अदूरदर्शिता है। वह तो युग विशेष के लिए निर्मित हुई थी, उस युग का काम उसने पूरा कर दिया। अब वह युग नहीं रहा है इसलिए उसका व्याख्यान करने वाली कविता भी अनावश्यक हो गई है।"

जिस ग्रन्थ को इतना प्रभावपूर्ण आपने ऊपर कहा है, उसी के लिए कहते हैं कि इसकी आवश्यकता नहीं रही। क्या ये दोनों निष्कर्ष परस्पर विरोधी नहीं?

'जयद्रथवध' के सम्बन्ध में आप केवल यह कहकर चुप हो रहते हैं—"काव्यकला की दृष्टि से [illegible] भारती की अपेक्षा इसे अच्छा बताया गया है।"

इसी [illegible] के 'मेघनादवध' पर लिखते हुए आपने [illegible] रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निबन्ध का लम्बा उद्धरण दिया है —

"मेघनादवध काव्य की केवल छन्द रचना और रचना प्रणाली में ही नहीं किन्तु इसके आन्तरिक भाव के अन्दर भी एक अपूर्व परिवर्तन देखा जाता है। यह परिवर्तन [illegible] नहीं है। इसमें एक प्रकार का विद्रोह है। [illegible] है [illegible] [illegible] और [illegible] के लिए [illegible] [illegible] के अन्दर एक [illegible] कहीं आती थी, कहीं [illegible]

बन्धन को भी उद्दडता के साथ तोड़ डाला है। इस काव्य मे राम और लक्ष्मण की अपेक्षा रावण और इन्द्रजीत का महत्व प्रदर्शित किया गया है। जो धर्मभीरुता हमेशा कौनसी वस्तु कितनी अच्छी और कितनी बुरी है, इसी का एक मात्र सूक्ष्मतया विचार किया करती है, उसका त्याग, दीनता और आत्मसयम इस कवि के हृदय को आकृष्ट नहीं कर सके हैं।"

इसके आगे भी बहुत कुछ कह चुकने के बाद इसकी कोई सार्थकता नहीं प्रकट की जा सकी। जो ईसाई-कवि पश्चिमीय सस्कृति के रङ्ग मे सराबोर था, उसका विश्लेषण करते हुए पाश्चात्य सभ्यता के विशेषज्ञ रवि बाबू जो कुछ कहते हैं वह सब हिन्दू-उत्कर्ष के हामी, 'भारत-भारती' के रचयिता रामोपासक मैथिलीशरण जी के सम्बन्ध में कही जा सकती है या नहीं, इस पर शास्त्री जी ने विचार नहीं किया। हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषी जनता के किस भावप्रवाह की लहरी 'मेघनादवध' में तरलित हो उठी है, इसकी कोई खोज नहीं की गई। अन्त मे 'विरहिणी व्रजाङ्गणा' के अनुवादक की भाषा की प्रशसा करके शास्त्री जी ने गुप्त जी की चर्चा समाप्त कर दी है।

वास्तविक बात यह है कि 'भारत-भारती' की रचना पूर्ण आर्यसमाजी प्रभाव के अन्दर हुई है। स्वामी दयानन्द ने ईसाई पादरियों और मुस्लिम मौलवियो का मुँह बन्द करने के लिए जिस दलीलपसन्द वेदवाद की सृष्टि की थी उसने व्यापक हिन्दुत्व को भी बहुत कुछ घेर और जकड़ दिया। सत्यार्थप्रकाश मे अपाठ्य ग्रन्थो की जो सूची दी है उसमें महात्मा तुलसीदास का रामचरितमानस भी सम्मिलित है। जैसी काव्य-भावना इस तर्क प्रधान वातावरण मे विकसित हो सकती थी वैसी ही गुप्त जी में भी विकसित हुई। आर्यसमाज ने भारतीय अद्वैतवाद का भी विरोध किया जिसका स्पष्ट अर्थ आत्म विकास के आदर्श को कुण्ठित कर देना था। 'भारत-भारती' मे राष्ट्रीय भावना उतनी प्रबल नहीं है जितनी साम्प्रदायिक भावना। मैथिलीशरण जी के हिन्दू-संस्कार आर्य-समाज के दायरे मे ही दृढ़ हो रहे थे। तथापि कवि की उज्ज्वल, अभेदकारी ज्योति भी दबी न रह सकी। 'जयद्रथवध' मे उसकी आभा अच्छी निखरी है। वीर-पूजा की निर्विकल्प भावना 'अभिमन्यु' के चरित्र मे खिल पड़ी है। 'जयद्रथवध' के मूल मे राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष 'भारत-भारती' से किसी क़दर कम नहीं है; अधिक ही है। नवयुवक वीर अभिमन्यु राष्ट्रीय यज्ञ मे अपने प्राणो की आहुति चढ़ा देता है। माता और पत्नी का अनुराग उसके मार्ग में बाधक नहीं होता, वह दृढ़ता से, किन्तु सयम से उसकी अव-हेलना करता है। सप्तरथियो के दुर्भेद्य चक्र की परवाह उसे नहीं और शस्त्रो के कट जाने

पर भी—निरस्त्र हो कर भी वह बहादुरी के साथ उनका सामना करता है। परन्तु आततायियों का उमराव शस्त्रबल से और (द्रोणाचार्य के) शास्त्रबल से भी, न्याययुद्ध की परिपाटी को तोड़ कर उस वीर का संहार कर डालता है। क्या यही हमारी वर्तमान परिस्थिति नहीं?

'पंचवटी' के अनुवाद की प्रेरणा गुप्त जी को यूरोप से नहीं मिली, वह भारतीय वातावरण से ही उठी है। मधुसूदनदत्त की तरह गुप्त जी असुर भावना के भक्त नहीं हैं, वे उसके प्रशंसक भी नहीं हैं। गुप्त जी उद्दामशक्ति की ताण्डव लीला देखने के इच्छुक नहीं हैं। वे भारत के एक सामान्य ग्रामीण हैं, विराट् आसुर चित्रों में उनकी वृत्ति नहीं रमती। वे अपनी सीता को आश्रमवासिनी बनाते हैं, जो पञ्चवटी की छाया में पशु पक्षियों को प्यार देती है, आदर देती है। लक्ष्मण भी संस्कृत के धीरोदात्त नायकों की परवाह न कर सरल, संयमशील जीवन को ही अपनाते हैं! उनकी एक अभिलाषा देखिए—

—इच्छा होती है स्वजनों को एक बार वन में लाऊँ
और यहाँ की अनुपम महिमा उन्हें घुमा कर दिखलाऊँ

दूसरे स्थान पर कहते हैं

नहीं जानतीं हाय हमारी माताएँ आमोद-प्रमोद
मिली हमें है कितनी कोमल कितनी बड़ी प्रकृति की गोद!
इसी खेल को कहते हैं यदि विद्वज्जन जीवन-संग्राम
तो इसमें सुनाम कर लेना है कितना साधारण काम?

यही कुछ सरल स्वस्थ मननीय भावनावाद का उद्गम है जिससे यूरोप के Rom[illegible] [illegible] का प्रसार हुआ था। [illegible] [illegible] Highland Reaper आदि [illegible] [illegible] है। [illegible]

[illegible]

यूरोप के शब्दकोप से उठे जा रहे है। अब तो हमारे देश में भी इन्ही उदार भावनाओ का प्रसार होने लगा है। कहा जाता है कि morality (सदाचार) का निर्णय बँधी हुई सामाजिक परम्पराओ के द्वारा नहीं किया जा सकता, उसकी जाँच व्यक्ति की परिस्थिति की परख से की जा सकती है। काव्य में यह वस्तु एक प्रकार से अनावश्यक बनी जा रही है। कहा जाता है कि व्यक्ति का इतना विकास हो गया है कि वह समाज की शृङ्खला को, उसकी रीति-नीति को जब चाहे तोड़ सकता है, यह व्यक्तिवाद की प्रखर धारा सामाजिक उपकूलो को डुबो कर, उमड कर बहना चाहती है। भारत में भी उसकी बाढ़ आ रही है। यह हमारे समस्त दृढमूल सस्कारों को उखाड फेकने की फिक्र कर रही है। यह भी वर्तमान युग की निराशा लहर का ही एक स्रोत है जिससे हमें सावधान रहना होगा।

यूरोप की बात यूरोप जाने, हम कभी भी समाज की आचार-मान्यता की अवहेलना नहीं कर सकते। समाज की शक्ति ही समष्टि की शक्ति है, सामाजिक रीति-नीति, सस्कार, सदाचार सब इसीके अन्दर आते है। इस विषय मे यूरोप की नवीन विचारधारा हमारे यहाँ से मेल नहीं खा सकती। हमारे यहाँ आत्मा को सर्वशक्तिमान माना गया है जिसे ससार की कोई भी परिस्थिति आक्रान्त नहीं कर सकती। वह आचार की दृढ भित्ति है। यूरोप का परिस्थितिवाद हीन और ह्रासोन्मुख सामाजिक अवस्था का परिचायक है। विशेष कर जब हम,देखते हैं कि रूस जैसे उन्नतिगामी-देश के साहित्यिक भी उच्च चारित्र्य का निर्वाह अपने साहित्य में नहीं करते तब हमे और भी आश्चर्य होता है। निश्चय ही गुप्त जी के साहित्य मे वास्तविक उच्च कोटि का चारित्र्य उस श्रेणी का नहीं है जैसा रामचरितमानस आदि में है, किन्तु एक नैतिक मर्यादा और तज्जन्य आदर्शवाद उनमे अवश्य है। यूरोप का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य व्यक्ति को आसमान पर चढा सकता है परन्तु हमारी प्रगति और हमारा विकास हमें नित्यप्रति नतशिर ही करते हैं। यूरोप का अतीत जंगली और असभ्य निवासियों का इतिहास है, इसलिए स्वभावतः वह उस आधार को ग्रहण नहीं करना चाहता, हमारी बात दूसरी है। हमारे यहाँ तो ज्ञान से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। हमारे वेद दिव्यज्ञान की लिखित प्रतिकृति है, हमारा समाज आदि ने ही ऋषियों और ज्ञानियों का समाज रहा है। हमारे कवि सदा से इस दिव्य-भावना का साक्षात्कार करते आये हैं और तन्मय होते आये हैं। एक दफे काशी विश्वविद्यालय के सुरुचि समाज में भाषण देते हुए 'निराला' जी ने दैवी और आसुरी साधनाओं का बड़ा ही मनोरम विश्लेषण किया था। तुलसीदास जी की साधना सम्पूर्णतः दैवी है। उनकी भावना का सार पूर्ण सात्विक है और आसुर भाव का वहाँ कहीं नाम भी नहीं है। सीता जी के शृङ्गार-वर्णन से लेकर उत्तर-

[illegible] के मानवीय तक सर्वत्र [illegible] ज्योति ही देख पड़ती है। रावण, मेघनाद आदि राक्षसों की सार्थकता उस उज्ज्वल ज्योति को प्रगट करने में ही है।

मनियत सबै राम के नाते सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

× × ×

सियाराममय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।

रावण, मेघनाद आदि पात्रों की परिणति राम में ही है। गुप्त जी में उतना उग्र आध्यात्म नहीं है, उसके स्थान पर नैतिक दृष्टि है।

तुलसीदास और मैथिलीशरण की तुलना करने पर आध्यात्मिक या दैवी परिधि और नैतिक मानवीय परिधि का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। पञ्चवटी-प्रसङ्ग को लेकर देखें। शूर्पणखा रुचिर रूप धारण कर राम लक्ष्मण को मोहने आई है। इस पर तुलसीदास की तीव्र प्रतिक्रिया देखिए—

अधम निशाचरि कुटिल अति चली करन उपहास,
सुनु खगेश भावी प्रबल भा चह निशिचर नाश।

और इसके बाद शीघ्र ही—

"लक्ष्मण अति लाघव तिहि नाक-कान बिनु कीन्ह"

परन्तु मैथिलीशरण जी इस प्रसङ्ग में शूर्पणखा के प्रति अधिक सहानुभूति दिखाते हैं, लक्ष्मण और राम को उससे अधिक देर बातें करने का मौका देते हैं। उसकी [illegible] किया गया है। सीता जी तो उसे अपनी देवरानी बनाने को [illegible] हैं। पारिवारिक मनोविनोद की स्वाभाविक आभा बीच बीच में फूट निकली है, [illegible] काव्य प्रेमियों का अधिक [illegible] भी है [illegible] तुलसी [illegible] प्रकट की है।

[illegible] लक्ष्मण को [illegible] हैं। [illegible] है। [illegible] है। इस [illegible]

तुलसीदास के राम और सीता कभी भी लक्ष्मण से विनोद नहीं करते पर मैथिलीशरण जी की 'पञ्चवटी' मे बराबर मनोविनोद और हास्य आदि के स्थल आये हैं। इससे और कुछ नहीं सिद्ध होता, केवल इतना ही सिद्ध होता है कि गुप्त जी की काव्यधारा मानवीय उपकूलो के अधिक पास से बह रही है।

रावण और मेघनाद की तामसी शक्ति ही नहीं, हनूमान भी तुलसीदास की निगाह मे प्रभु-प्रताप के ही परिणाम है। सब का उद्गम एक है। तुलसीदास की यह अद्वैत भावना लोगो की समझ मे कम आती है। क्योंकि काव्य-प्रवाह के बीच उसका अप्रत्यक्ष रूप ही देखा जा सकता है। मैथिलीशरण जी के अनेक पात्र अलग अलग अस्तित्व रखते है। इसका कारण यह है कि तुलसी की वृत्तियाँ जितनी सयमित और समाहित है मैथिलीशरण जी की उतनी नहीं। यह परिवर्तन साहित्य और सस्कृति के विकास मे आवश्यक हो गया था। दो युगो की पृथक्-पृथक् छाया हम दोनो मे देखते हैं।

जिस अविरत साधना का अभिनव सौन्दर्य गोस्वामी जी के 'मानस' मे शतदल, सहस्रदल होकर खिल उठा है, कालचक्र मे पड कर उसका ह्रास हो गया। आध्यात्मिक शक्तिपूर्ण पवित्र आदर्श एक निर्जीव निस्सार धर्माभास मे परिणत हो गया। शृङ्गार काव्य के सहेट स्थानो की भाँति भक्ति सम्प्रदायो के अनेक ऐकान्तिक लोको की सृष्टि हुई और शृङ्गारिक नायिकाओं की स्पर्द्धा मे शतश दिव्य नायिकाओं का निर्माण हुआ: जिनका आभास भक्ति-काल की 'उज्ज्वल नीलमणि' आदि आलङ्कारिक और रीतिबद्ध रचनाओं मे मिलता है। इसी प्रकार असामान्यता का अर्थ प्रारम्भ मे उच्च सदाचार पूर्ण धीरोदात्त आदि नायकों का चित्रण रहा होगा पर आगे चल कर उसने ऊँचे घरानो के और समाज के सरक्षक समझे जाने वाले राजा-महाराजाओं के, वर्णन का रूप धारण कर लिया, जिसके कारण कविता में ह्रासोन्मुख सामंतवाद की मिथ्या रूढियाँ और अनुभूतिहीन शब्दाडम्बर का काफी प्रचार हुआ। यूरोप में भी इसी कृत्रिमता की वृद्धि होती रही और अन्त में वह प्राचीन Classic काव्यसाहित्य के पतन का कारण हुई। वह कृत्रिमता रूढियो के चक्र मे पड़कर प्रगतिशील मनुष्य-जीवन से इतनी भिन्न हो गई और दूर जा पड़ी थी कि मनुष्य उसे बहुत दिनो तक सहन नहीं कर सका। उसी के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई उससे यूरोप के Romantic आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस आन्दोलन ने काव्य की कृत्रिम असामान्यता दूर कर दी और उसके स्थान में लोकसामान्य भाषा और लोक-सामान्य भावों की सृष्टि की। भारतीय काव्य-साहित्य मे भगवान् कृष्ण के असामान्य व्यक्तित्व की आड़ में एक ओर आलंकारिक और पिष्टपेषित भक्ति

जो अपनी सांस्कृतिक उपयोगिता खो चुकी थी और दूसरी ओर अनर्गल किन्तु दुर्बल शृङ्गार का प्रवाह बहता रहा। हिन्दी के शृङ्गार-काल का हाल कौन नहीं जानता? मैथिली शरण जी ने पहले पहल इस अवनत स्तर से कविता को ऊपर उठाने का उपक्रम किया। यही भावना उन्हें जन समाज का कवि बनाने में समर्थ हुई। गुप्त जी 'हिन्दू' की भूमिका में एक स्थान पर कुछ क्षुब्ध से होकर कहते हैं 'हाय! लेखक कहीं जन साधारण का ही कवि हो सकता! परन्तु प्रतिभा देवी का यह प्रसाद भी प्राप्त न हो सका।' हम गुप्त जी को यह विश्वास दिलाते हैं कि जन-साधारण का कवि होना ही प्रतिभा का सब से बड़ा प्रसाद है और इस प्रसाद की प्राप्ति के लिए आप ने जो साधना की है वह हिन्दी के इतिहास में आप का नाम अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। नीचे के कुछ चित्र कितने साधारण किन्तु हमारे प्राणों के कितने सन्निकट हैं—

बैठी बहन के स्कन्ध पर रक्खे हुए निज वाम कर
कुलदीप-सा बालक खड़ा था स्थिर वहाँ
थी तोतली वाणी अहा, उसने मधुर स्वर से कहा
'माता अचल को मैं अभी वह है कहाँ'

* * *

मन्दिर लिये रक्खे हुए, शुक वृन्द के चक्खे हुए
कुछ बेर जो थे दीन शबरी के दिये
खाकर जिन्होंने प्रीति से, शुभ मुक्ति दी भवभीति में
वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किये

(त्रिपथगा)

इन पद्यों में [illegible] का वर्णन आया है [illegible] जैसा शान्त, सरल, पवित्र वातावरण [illegible] हिन्दी के [illegible] अनुपम है।

कुछ लोग हिन्दी साहित्य में छायावाद के अवतरण से नवीन युग का श्रीगणेश मानते हैं, [illegible] अभी अभी [illegible] [illegible]

दिया है, जिसे सामान्य मानवता कहते है और जो यूरोप के रोमैण्टिक काव्य-प्रवाह का उद्गम है। उसकी आरम्भिक व्यञ्जना गुप्त जी ने ही इस युग की हिन्दी मे सर्वप्रथम की—

यही होता है जगदाधार !
छोटा-सा घर आँगन होता इतना ही परिवार।
कहीं न कोई शासक होता और न उसका काम।
होता नहीं भले ही तू भी रहता केवल नाम।
गाता हुआ गीत ऐसे ही रहता मैं स्वच्छन्द,
तू भी जिन्हें स्वर्ग मे सुनकर पाता परमानन्द।
होते यन्त्र न तन्त्र और ये आयुध यान अपार।
होता नहीं क्रान्ति कोलाहल शान्ति खेलती आप।
जैसा आता बस वैसा ही जाता मैं चुपचाप।
स्वजनों में ही चर्चा छिड़ती सो भी दिन दो-चार।
यही होता है जगदाधार !

यह हिन्दी के नवयुग की भावना ठीक वैसी ही है जैसी अङ्गरेजी में फ्रान्स की राज्यक्रान्ति और यान्त्रिक सभ्यता के प्रवेश-काल मे उठी थी।

मैथिलीशरण जी की काव्यसाधना बिलकुल स्वदेशी ढग की है। उसका मेल महाकवि रवीन्द्रनाथ से नहीं मिलता। रवि बाबू का भावना-प्रवाह उन्मुक्त होकर दिग-दिगंत मे प्रसरित होता है। उनका मस्तक अपनी साधना से उन्नत, अपने गौरव से दीप्तिमान है। युगों के उपरान्त भारत ने ऐसा दिग्विजयी कवि प्राप्त कर अपने को धन्य माना है। यूरोप मे रवि बाबू का आतङ्क पूर्व के मध्याह्न-सूर्य की भाँति छाया रहा है। उन्होंने समुद्र-समीर मे गंभीर मगल ध्वनि सुनी है, नीलाम्बर उनकी विश्व-विजयिनी कविता-कामिनी का अञ्चल-प्रान्त बन कर कृतकृत्य हुआ है। उन्होंने विश्व-प्रिया की उज्ज्वल आभा में समस्त क्षुद्रता तिरोहित कर दी है, दासत्व का सम्पूर्ण कलङ्क-तिलक धो डाला है।

बेचारे मैथिलीशरण इतनी स्पर्द्धा नहीं कर सकते। उनकी साधना वैसी नहीं। वे दीन-दरिद्र भारत के विनीत, विनयी और नतशिर कवि हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान भरने की उनमे शक्ति नहीं है किन्तु राष्ट्र की ओर युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागृति

आशय आरम्भ से ही प्रकट हो जाता है कि वह रामायण की बाल-लीलाओं को छोड़ कर काव्य मे उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्रों को प्रमुखता देना चाहता है। आरम्भ से ही यह सङ्केत मिलने लगता है कि 'साकेत' महाकाव्य के आवरण मे प्रेम-काव्य बनना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही रामचरित का सम्पूर्ण बालकाड निकाल कर प्रेमकथा का श्रीगणेश किया गया है। बालकाड के अभाव से 'साकेत' की प्रेमकथा शिथिल न होकर अधिक सच्चित और प्रभावशालिनी बन गई है। बालकाड के निराकरण से 'साकेत' के कवि का यह आशय प्रकट है कि वह काव्य को घटना-प्रधान नहीं बनाना चाहता, वर्णन-प्रधान बनाना चाहता है। सक्षेप मे कवि का आशय वर्णन-प्रधान प्रेमकाव्य लिखने का स्पष्ट है परन्तु इसके साथ ही वह पूरे रामचरित का आनुषगिक वर्णन भी करना चाहता है। इन दोनो लक्ष्यो का समन्वय करने मे कवि को सफलता नहीं मिल सकी है।

साकेत का प्रथम सर्ग लक्ष्मण और उर्मिला के संयोग-वर्णन से आरम्भ होता है। यहाँ यह आभास है कि लक्ष्मण काव्य के नायक और उर्मिला नायिका है। परन्तु परवर्ती सर्गों मे लक्ष्मण राम के साथ वनवासी होकर साकेत से निर्वासित हो जाते है, इसलिए 'साकेत' मे नायक लक्ष्मण का चरित्र गौण और नायिका उर्मिला का प्रमुख बन जाता है। ऐसा होना अवश्यम्भावी तो था, पर कवि को नायक के रूप मे लक्ष्मण का कुछ अधिक उत्कर्ष-साधन भी करना था। परन्तु कवि के साथ यह कठिनाई पड़ी देख पड़ती है कि वह रामभक्त होने के कारण राम को भी छोड़ नहीं सकता। कवि लक्ष्मण के लिए राम का त्याग नहीं कर सका और न रामायणी कथा का त्याग कर सका। यह बहुत कुछ कवि की व्यक्तिगत धार्मिक भावना का परिणाम जान पड़ता है, जो काव्य के अङ्ग-सङ्घटन और चरित्र-निर्माण मे बाधक हुआ है। लक्ष्मण का चरित आवश्यकता से अधिक दबा हुआ है और दूसरी ओर उर्मिला का चरित उचित से अधिक उभरा हुआ है। उर्मिला साकेत की प्रधान नायिका है। राम-वनवास के चौदह वर्षों मे साकेत का अधिकाश जीवन स्पन्दन उर्मिला के ही प्राणों पर आश्रित है। उसके विरह-वर्णन मे साकेत के दो सर्ग लगाये गये है, जो सर्वथा सङ्गत है। परन्तु कुछ स्थानों पर उर्मिला का चित्रण अत्यधिक अतिरञ्जित कर दिया गया है। वह महाकाव्य की नायिका है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह प्रत्येक अपेक्षित अथवा अनपेक्षित अवसर पर सामने लाकर रखी जाय। कथा का विकास एक पात्र द्वारा ही नहीं अनेक पात्रो द्वारा होना चाहिए और नायिका को प्रमुख स्थान देते हुए भी सङ्गति का भी ध्यान रखना चाहिए। उर्मिला की वियोग-दशा का उचित अभिव्यञ्जन उसके स्वतन्त्र पद के कम करने से सम्भव था, पर दशरथ के मरण पर भी कौशल्या, सुमित्रा आदि विधवा पत्नियों से अधिक उर्मिला

रहस्य को प्रदर्शित करने के लिए की जाती है। आर्य-सभ्यता के विकास-काल में जब देव-दानवों का (अर्थात् दैव और आसुर संस्कृतियों का) संघर्ष हो रहा था तब महर्षि वाल्मीकि ने देवपक्ष का विजयघोष करने वाले रामायण महाकाव्य का निर्माण किया। वेदव्यास ने त्रेता के अन्त में कुरु-क्षेत्र संग्राम का स्मारक महाभारत ग्रन्थ रचा, जो कलियुग का अग्रदूत, अत्यन्त दुःखान्त सृजन है। महाभारत के गीता-प्रकरण में महाकवि ने आँसू पोंछने की अल्प-चेष्टा न की होती तो उसका अध्ययन करने का साहस एक भी व्यक्ति न कर सकता। उसका अन्तिम शान्तिपर्व तो विकट अशान्तिकारी है। उजाड़ भरतखण्ड के एक-मात्र श्मशान-दीप जब पञ्च पाण्डव भी लुप्त हो जाते हैं तब अंधकार की विकराल आकृतियाँ मानो युधिष्ठिर के नरक-दर्शन के रूप में प्रकट होकर भीषण भय का सञ्चार करती हैं। विधवा भरतभूमि उस समय शोक के चार आँसू ढालने से भी वञ्चित है—ऐसा नृशंस वह शान्तिपर्व है। रामायण और महाभारत के महाकाव्य हमारे विचार से, जगत्तत्व के दो विपरीत चक्र हैं—विपरीत होते हुए भी समान, तराजू के तुले हुए पलड़ों की भाँति। ये दोनों चक्र क्रमशः आशा-निराशा, विकास-ह्रास और उत्पत्ति-प्रलय के हैं जो दोनों विपरीत, किन्तु सम हैं। सम न होते तो सृष्टिचक्र न चलता। रामायण सृष्टि की आशा है, महाभारत निराशा। यदि काल-चक्र के इन दोनों महान् रूपकों को काल के ही एक लघुरूपक में प्रकट करें तो कहेंगे कि रामायण आधी रात से लेकर दोपहर दिन तक का बारह घण्टा है और महाभारत दोपहर दिन से लेकर आधी रात तक का बारह घण्टा। दोनों की अवधि एक है, दोनों का उत्कर्ष एक। एक के नायक राम हैं, दूसरे के कृष्ण। दोनों अवतार। दोनों ही बराबर। "सम प्रकाश-तम पाख दुहुँ, नाम भेद विधि कीन्ह।"

रामायण सृष्टि का आशाचक्र होने के कारण आधी रात के अन्धकार में आरम्भ होता है—दैत्यों के उत्पातों के साथ। धीरे-धीरे आशा की ज्योति खुलती जाती है और रावण-वध के साथ नवीनयुग का अरुणोदय होता है। रामराज्य की स्थापना पूर्ण प्रकाश में होती है। आर्य-सभ्यता का दिन चढ़ता आता है। सीता की सतीत्व परीक्षा के समय मध्याह्न का प्रखर ताप हो आया है। वही विकास की परम अवधि होने के कारण ह्रास के एक परमाणु से संयुक्त है। सीता की अग्नि-परीक्षा आर्य-संस्कृति के उत्थान का शीर्षबिन्दु और पतन का प्रथम क्षण है। परन्तु महाभारत आर्य-साम्राज्य के सूर्योज्ज्वल प्रकाश में क्षीण तिमिर-रेखा के मिश्रण-क्षण से आरम्भ होता है। दिन का बारह बजकर एक सेकेण्ड हुआ है। लोकोत्तर महापुरुष कृष्ण के उत्कट उद्योगों को पराङ्मुख कर संध्या आने

वह महाकाव्य के उपयुक्त है। सन्यासी भरत और वियुक्ता उर्मिला का चरित्र करुणापूर्ण है। उसके आधार पर महाकाव्य की रचना नहीं हो सकती। जब वाल्मीकि ने और वाल्मीकि से भी अधिक तुलसीदास ने रामचरित का उत्कर्ष दिखाते हुए राक्षसराज रावण को अँधेरे में डाल दिया तब माइकेल मधुसूदनदत्त ने चित्र के दूसरे पहलू को प्रदर्शित किया। जब समाज में आदर्श की रूढ़ियाँ बँध जाती हैं और वह एक निर्जीव और निष्क्रिय धर्माभास के घेरे में घिरकर अन्धवत आचरण करता है तब मस्तिष्क को सचेत करने के लिए कभी-कभी उसे धक्का देने अथवा चोट पहुँचाने की आवश्यकता पड़ती है। माइकेल मधुसूदन ने मेघनाद के वध के द्वारा वही चोट पहुँचाई और वही चेतना उत्पन्न की। कवि का यह स्वाभाविक धर्म है, काव्य की यह भी एक प्रक्रिया है। साकेत भी रामायण के दूसरे पक्ष को, वह पक्ष जो राम के वनवास और युद्ध का नहीं, भरत की तपस्या और उर्मिला की विरह-व्यथा का है, जो अलौकिक नहीं है, किन्तु कहीं अधिक मानवीय है, अङ्कित करता है।

'साकेत' और 'मेघनादवध' में यह साम्य है कि दोनों ही लोकोत्तरत्व की प्रतिक्रियायें हैं। दोनों ही रामायण के विस्मृत, त्यक्त अथवा अपमानित प्रसङ्गों तथा पात्रों पर प्रकाश डालते हैं। रामायण में राम के सेना-सङ्गठन और समुद्रोल्लङ्घन का वर्णन है, 'मेघनादवध' में राम का सामना करने वाले रावण और इन्द्रजीत के देवार्चन तथा सेना-सज्जा का वर्णन है। रामायण महासती सीता का गुणगान करता है, 'मेघनादवध' देवकन्या मन्दोदरी की गुणावली गाता है। उसी प्रकार रामायण के वनवासी राम और लक्ष्मण के स्थान पर 'साकेत' में तपस्वी भरत और विरहिणी उर्मिला की चरित्र सृष्टि होती है। दोनों में अन्तर यह है कि मेघनादवध में चरित्रों का निर्माण वीरकाव्य की मर्यादा के अनुकूल हुआ है, किन्तु साकेत प्रेमाख्यानक काव्य में परिणत हो गया है। रामायण कैकेयी की कुटिलता को क्षमा नहीं करती। तुलसीदास 'कुटिलपानि पछितानि अघाई' कह कर चुप हो रहते हैं, वाल्मीकि तो इतना भी नहीं कहते। किन्तु 'साकेत' में कैकेयी का पूर्ण परिवर्तन अङ्कित किया गया है जो भावनापूर्ण होते हुए भी महाकाव्य की उदात्त परम्परा के उपयुक्त नहीं। 'मेघनादवध' का साहसी कवि निर्भीकभाव से रक्षःराज वंश का उत्कर्ष वर्णन करने में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित कर देता है, पर साकेत के भक्त कवि रामअभिषेक, वनगमन, चित्रकूटप्रसङ्ग को भी साथ-साथ रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बङ्गाली कवि नवीनचन्द्र के 'प्रभास' के तीन खण्डों की भाँति 'साकेत' के भी दो खण्ड हो जाते हैं जिसमें महाकाव्य के स्थलसङ्कलन तथा कालसङ्कलन में

मिलता। यदि प्रसङ्गप्राप्त एक एक रसमय स्थल के दर्शन किये जायँ तो साकेत' मे उनकी बड़ी मात्रा मिलेगी, पर सम्पूर्ण काव्य उतना द्युतिमान नहीं बन सका। कारण हम ऊपर कह चुके हैं। प्रथम सर्ग मे लक्ष्मण-उर्मिला की जो मृदु-चञ्चल यौवन तरङ्ग तरङ्गित हुई थी उसकी उत्कृष्ट परिणति अन्तिम सर्ग मे हुई है। यदि मैथिलीशरण जी अनाकाङ्क्षित प्रसङ्गो का विक्षेप न डाल कर केवल लक्ष्मण-उर्मिला के चरित-निर्माण मे अपनी पूरी प्रतिभा सन्निहित करते तो 'साकेत' की समीक्षा कुछ दूसरे ही शब्दो मे की जाती· परन्तु वैसा सम्भव नहीं हो सका। 'साकेत' के प्रथम सर्ग की सर्वथा सङ्गत वर्णन-प्रणाली की आवृत्ति आगे के सर्गों मे भी की गई, जहाँ वह असङ्गत बन गई। प्रथम सर्ग प्रीति के एक लघु मोदमय वातावरण में आरम्भ होता है। वहाँ कवि ने वार्तालाप का जो चमत्कार दिखाया है वह सम्पूर्ण प्रासङ्गिक है। पर आगे के सर्गों मे उस चमत्कार की आवश्यकता नहीं थी। काव्य-सरिता दूसरे उपकूलो से बहने लगी थी। वहाँ कल-कल, छल-छल का तरल स्वर नहीं रहा था, पर कवि अपने को वातावरण के अनुकूल नहीं बना सका। उसका प्रथम सर्ग वाला वाक्छल और 'सभा-चातुरी' नहीं छूटी। दुःख है कि वह लगातार आठ सर्गों तक नहीं छूटी। छन्द बदले गये पर छन्दों मे भी पूरी शक्ति नहीं आई। महाकाव्य और 'सभा-चातुरी' मे तो बहुत बड़ा अन्तर है। वन जाते समय जब उद्भ्रान्त प्रजा-जन राम को घेर लेते हैं तब प्रजा की प्रीति-शृङ्खला तोड़ने के लिए भी राम वाक्चातुरी ही दिखाते हैं। "तुम लोग भद्र अवज्ञा मत करो, हम जैसा हुक्म देते हैं वैसा करो।" पर इस भाँति कहीं प्रीति-शृङ्खला टूटती है ? यहाँ उपयुक्त भावोद्वेगों का प्रदर्शन करने में गुप्त जी की कला समर्थ नहीं हुई।

महाकवि तुलसीदास की चौपाई का रहस्य बहुतों को नहीं मालूम। उस छोटी सी छन्द मूर्ति मे अद्भुत शक्ति है। अन्तिम दोनो गुरु मात्राओं के पैरो पर खड़ी होकर चौपाई मानो अपने दृढ़ अस्तित्व की घोषणा करती है। प्रत्येक स्वत स्वतन्त्र है, चैतन्य आत्मा की भाँति। यही चौपाई की स्थिरता है। फिर उसमें प्रवाह भी है। लम्बी भावनाओं की धारा मे चौपाई अपनी एक गुरु मात्रा समेट कर जैसे फुर्तीली होकर चलती है। भावना के क्षिप्र अथच समन्वित रूप के प्रदर्शनार्थ अद्भुत कलामर्मज्ञ गोसाईं जी ने ऐसी चौपाइयो का प्रचुर व्यवहार किया है। कुछ समीक्षकों ने केशवदास की इसलिए प्रशंसा की है कि उन्होंने छन्दों में बहुलता दिखाई है। परन्तु केशवदास की उस बहुलता की अपेक्षा गोस्वामी जी की चौपाइयों की तरङ्ग भंगिमा अधिक रमणीय, काम्य और उपयुक्त हुई है। यदि गोस्वामी जी की छोटी-सी

टप-टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा मे, झड़-झड़ पडते थे तुच्छ तारे दिशा में !
कर पटक रही थी निम्नगा पीट छाती, सन-सन करके थी शून्य की साँस आती !

सखी ने अङ्क मे खींचा, दु.खिनी पड़ सो रही।
स्वप्न में हँसती थी हा ! सखी थी देख रो रही ॥

भावना का प्रसार अथवा पौरुष प्रदर्शित करने मे गुप्त जी ने अधिकाश कवित्त छन्द का प्रयोग किया है जो उनकी अन्तर्दृष्टि का परिचय देता है। परन्तु कवित्त छन्द से भी अधिक प्रलम्ब वर्ण-सङ्गठन खडा करने की चेष्टा उन्होंने क्यो नहीं की, यह नहीं कहा जा सकता। मेघनाद वध में मुक्त छन्द का प्रयोग तो वे अत्यधिक सफलता से कर चुके थे।

एक ही त्रुटि, जो सम्भवतः खडी बोली मे अपरिहार्य है, दूरी की अभिव्यक्ति (long perspective) करने वाले छन्दो का अभाव है। खड़ी बोली के छन्दो का 'कैनवस' वैसा करने मे समर्थ नही हो रहा। यह सम्भवतः हमसे उस (खडी बोली) की निकटता के कारण है। पर इस स्थूल शृङ्खला को तोडने की आवश्यकता है। केवल इस दिशा में 'साकेत' के छन्दो का पूर्ण विकास नहीं हुआ।

अब शेषाश मे हमे साराश कहना चाहिए। वह भी सक्षेप में ही कहा जा सकता है। 'साकेत' के मुखपृष्ठ पर 'राम तुम्हारा चरित स्वयम् ही काव्य है' कह कर राम की महिमा सुनाई गई है। दूसरे पृष्ठ के 'समर्पण' मे भी राम की स्तुति है। तीसरे पृष्ठ में 'इदं पवित्रं पापघ्नम् पुण्य वेदैश्च सम्मतम्' रामचरित को सर्वपाप प्रमोचन कहा गया है। भक्ति की मात्रा बढती ही जा रही है। चौथे पृष्ठ पर 'कलभेद हरिचरित सुहाये, भाँति अनेक मुनीसन गाये' कह कर कवि स्पष्टत. भक्तों की श्रेणी में नाम लिखा लेता है और इसकी अगली ही पक्ति में 'हरिअनन्त हरिकथा अनन्ता' आदि के द्वारा मानो हरि-कथा की गहन अनुभूति में मग्न हो काव्य कला से उदासीन होने लगता है। 'रामचरित जे सुनत अघाहीं' का उद्धरण देकर वह श्रवण-कीर्तन का पक्ष समर्थन करते हुए मानो काव्य-सघटन पर आक्रमण करता है। इन अर्चना पक्तियों मे 'साकेत' का कहीं नाम नहीं है, जो बहुत खटकता है। इसके आगे बढ कर मूल काव्य में भी 'भक्ति बाहुल्य' के कारण ही 'साकेत' को चौदह वर्षों की वियोगभारावनता साकेत नगरी तो सँभालनी ही पडी है, सारे रामचरित का भार भी वहन करना पड़ा है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि 'साकेत' मे इतनी शक्ति नही है कि वह दोनो पक्षो का बोझ सँभाल सके, तथापि उससे ऐसा कराया जा रहा है। 'साकेत' के छन्द खड़ी बोली की किशोरावस्था के होने के कारण विराट् घटनासनुा दे

टप-टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा मे, झड़-झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा मे !
कर पटक रही थी निम्नगा पीट छाती, सन-सन करके थी शून्य की साँस आती !

सखी ने अङ्क मे खींचा, दुःखिनी पड़ सो रही।
स्वप्न मे हँसती थी हा ! सखी थी देख रो रही ॥

भावना का प्रसार अथवा पौरुष प्रदर्शित करने मे गुप्त जी ने अधिकाश कवित्त छन्द का प्रयोग किया है जो उनकी अन्तर्दृष्टि का परिचय देता है। परन्तु कवित्त छन्द से भी अधिक प्रलम्ब वर्ण-सङ्गठन खड़ा करने की चेष्टा उन्होने क्यों नहीं की, यह नही कहा जा सकता। मेघनाद वध मे मुक्त छन्द का प्रयोग तो वे अत्यधिक सफलता से कर चुके थे।

एक ही त्रुटि, जो सम्भवत खडी बोली मे अपरिहार्य है, दूरी की अभिव्यक्ति (long perspective) करने वाले छन्दो का अभाव है। खडी बोली के छन्दो का 'कैनवस' वैसा करने मे समर्थ नही हो रहा। यह सम्भवतः हमसे उस (खडी बोली) की निकटता के कारण है। पर इस स्थूल शृङ्खला को तोडने की आवश्यकता है। केवल इस दिशा मे 'साकेत' के छन्दो का पूर्ण विकास नहीं हुआ।

अब शेपाश मे हमें साराश कहना चाहिए। वह भी सक्षेप मे ही कहा जा सकता है। 'साकेत' के मुखपृष्ठ पर 'राम तुम्हारा चरित स्वयम् ही काव्य है' कह कर राम की महिमा सुनाई गई है। दूसरे पृष्ठ के 'समर्पण' मे भी राम की स्तुति है। तीसरे पृष्ठ में 'इदं पवित्र पापघ्नम् पुण्य वेदैश्च सम्मतम्' रामचरित को सर्वपाप प्रमोचन कहा गया है। भक्ति की मात्रा बढती ही जा रही है। चौथे पृष्ठ पर 'कल्पभेद हरिचरित सुहाये, भाँति अनेक मुनीसन गाये' कह कर कवि स्पष्टत. भक्तों की श्रेणी में नाम लिखा लेता है और इसकी अगली ही पक्ति मे 'हरिअनन्त हरिकथा अनन्ता' आदि के द्वारा मानो हरि-कथा की गहन अनुभूति में मग्न हो काव्य कला से उदासीन होने लगता है। 'रामचरित जे सुनत अघाहीं' का उद्धरण देकर वह श्रवण-कीर्तन का पक्ष समर्थन करते हुए मानो काव्य-सघटन पर आक्रमण करता है। इन अर्चना पंक्तियों में 'साकेत' का कहीं नाम नहीं है, जो बहुत खटकता है। इसके आगे बढ कर मूल काव्य में भी 'भक्ति बाहुल्य' के कारण ही 'साकेत' को चौदह वर्षों की वियोगभारावनता साकेत नगरी तो सँभालनी ही पड़ी है, सारे रामचरित का भार भी वहन करना पड़ा है। हम प्रत्यक्ष देखते है कि 'साकेत' में इतनी शक्ति नहीं है कि वह दोनो पक्षों का बोझ सँभाल सके, तथापि उससे ऐसा कराया जा रहा है। 'साकेत' के छन्द खड़ी बोली की किशोरावस्था के होने के कारण विराट् घटनासमूह के

कवि बन गये। उनका सम्पूर्ण मानसिक अस्तित्व कृष्ण की रूपमाधुरी मे रम गया। उनकी तमाम भावनाएँ कृष्ण मे केन्द्रित हो गई। कभी-कभी भक्तिजन्य यह केन्द्रीकरण काव्य का अपकार भी करता है, जब वह रसमयी कविता की नही, केवल पुनरुक्तियो की सृष्टि करने लगता है। वहाँ कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। सूरसागर मे यह अवगुण हमे नही मिलता। 'साकेत' की त्रुटि दूसरे प्रकार की है। त्रुटि से विपरीत प्रकार की है। 'साकेत' मे सूरसागर का सा भावोन्मेष तो है पर उसमे महाकाव्य के अनुरूप भावना-सकलन की कमी है। काव्यसमीक्षा का ध्यान रखते हुए हम कहते है कि 'साकेत' का कवि किसी उदात्त पात्र का उत्कट भक्त नही। काव्य की दृष्टि से वह न राम का भक्त है न लक्ष्मण का और न 'साकेत'-वासी भरत का ही। 'साकेत' मे वह एकमात्र उर्मिला का ही भक्त है। इसलिए 'साकेत' के मन्दिर मे उर्मिला की मूर्त्ति ही सब से अधिक सजीव अथच मनोरम हुई है।

काव्य के लिए प्रत्यक्ष वर्णन से अधिक परोक्ष अध्याहार की महिमा कही गई है। राम-भक्ति की व्यञ्जना रामचरित्र के प्रत्यक्ष वर्णन मे ही नहीं, राम के बिना सूनी, साकेत का शून्य चित्र दिखाने मे भी सिद्ध हो सकती थी। राम की अनुपस्थिति मे साकेत का कण-कण राममय देखा जा सकता था। कवि की एक कठिनाई हम अवश्य स्वीकार करते है। राम की अनुपस्थिति मे साकेत का प्रसग-वर्णन करने के लिए उसे किसी प्रकार का ऐतिहासिक अथवा शास्त्रीय आधार प्राप्त नही था। केवल कुछ रामायणो मे यह घटना मिलती है कि हनूमान सजीवनी बूटी अयोध्या से ले गये थे। कवि ने उसका उपयोग कर लिया। इससे अधिक उसने यह किया कि लङ्का का नाश करने के लिए साकेत की सेना सजवा दी। परन्तु शीघ्र ही वाल्मीकि की मन्त्रशक्ति के कारण निःशस्त्रीकरण की योजना करा देनी पडी।

हम निवेदन करेगे कि ये शास्त्रीय और ऐतिहासिक परम्परापालन साकेत के लिए हानिकर ही हो गये। जैसा हम आरम्भ मे कह चुके है कि 'साकेत' का कवि 'चित्र के दूसरे पहलू' को दिखाने का उपक्रम करता है। पर 'चित्र के दूसरे पहलू' के लिए उसे शास्त्रीय प्रवचन ढूंढने की अधिक आवश्यकता नहीं थी। मेघनाद-वध के कवि ने भी ऐसा ही किया है। मैथिलीशरण जी को इतिहास पुराण आदि की अपेक्षा इस अवसर पर अपनी कल्पनाशक्ति से काव्यकला की ज्योति जगानी थी। पर यहाँ भी उन्होने रूढ़ि की शृङ्खलाएँ नहीं तोडी। फलत. उन्हे 'साकेत' मे चित्र के दोनो पहलू दिखा कर महाकाव्य का भ्रम निर्माण करना पड़ा। कला के नियमो के प्रतिकूल होने के कारण चित्र

हुआ है। शक्ति से हमारा आशय वाच्य, लक्ष्य और व्यञ्जना-शक्तियो से है। गुप्त जी ने 'साकेत' मे शब्दो के प्रति विशेष आत्मीयता दिखाई है ; जिसे प्रदर्शित करने के लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध की आवश्यकता होगी। अन्य विशेषताओ का उल्लेख हम बीच-बीच मे करते आये है। यदि हमने 'साकेत' की त्रुटियो का उल्लेख करने मे अधिक समय नष्ट किया है तो केवल इसलिए कि हम समझते हैं कि गुप्त जी एक श्रेष्ठ सत्कवि है। बङ्गला का आधुनिक काव्य साहित्य विशेष उन्नत समझा जाता है पर माइकेल मधुसूदन दत्त के अतिरिक्त कोई कवि गुप्त जी से प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र मे आगे नही है। रवि बाबू का क्षेत्र दूसरा है। नवीनचन्द्र, हेमचन्द्र आदि से मैथिलीशरण जी की समता करने मे किसी काव्य-मर्मज्ञ को कुछ भी सकोच नही होगा। 'साकेत' गुप्त जी का 'महाकाव्य है। उसे महाकाव्य की दृष्टि से ही देखना संगत था जो शताब्दियो मे दो-एक लिखे जाते है। ऐसी अवस्था मे जो त्रुटियाँ ऊपर दिखाई गई हैं उनका अर्थ समझने मे भ्रम न करना चाहिए। सक्षेप में उसका अर्थ यही है कि गुप्त जी में और रामचरितमानस आदि के महाकवियो मे क्या अन्तर है। इस तुलना में ही गुप्त जी का गौरव व्यजित है।

जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिन्दी मे प्रस्तुत किये गये उन्हे देखते हुए यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रन्थो का प्रस्तुत किया जाना किसी समुन्नत साहित्य-युग में सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति मे परिवर्तन हो चला। आँखे खुली और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द में नहीं है, वह तो मानव सवेदना के विस्तार में है। नायक-नायिका कवि जी की कल्पना में निर्माण होने के लिए नही है। प्रगतिशील ससार की नानाविधि परिस्थितियो और सुख-दु ख की तरगो में डूबने-उतराने और घुल कर निखरने के लिए हैं और काव्यकला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई मे है, शब्द-कोष के पन्ने उलटने मे नहीं।

यह प्रकाश हमे इस बार पश्चिम से मिला। सुनने में यह बात आश्चर्यजनक मालूम देती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्त्व हमने डॉक्टर ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाईजी के 'मानस' का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप मे आदर अवश्य था, पर काव्य तो बिहारीलाल, पद्माकर और केशव का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उसके पहले क्या उसके पीछे भी हमारे साहित्य मे ऐसे 'अन्वेषकों' की कमी नहीं रही जिन्होंने बिहारी की होड़ में 'देव' को तो ला रक्खा पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। हमारे विश्वविद्यालयों ने इन अन्वेषकों को सम्मानपूर्ण डिग्रियाँ भी दी है। रीतियुग के ये 'अपटूडेट' हिन्दी प्रतिनिधि है।

ठीक इसके विपरीत प० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य मे रीतिकालीन परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। उन्होने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियो के मुकाबले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिलीशरण जी के काव्योत्थान की सराहना की। किसी विशेष वाद अथवा विचारधारा का काव्य में प्रवेश होना ही उसके उत्कर्ष का साधक है, कुछ ऐसी धारणा द्विवेदी जी की थी। आज के कुछ प्रगतिशील आलोचको का भी ऐसा ही मत है। वह विचारधारा या वाद काव्य की अपनी सत्ता के साथ एकाकार हो गया है या नहीं, यह वे नहीं देखना चाहते। मेरे विचार से यह दूसरी हद है। जो कुछ हो, इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदी जी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किये जाने पर भी विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। यही आशा भी की जाती थी।

प्रतिभा किसी कठघरे मे बन्द नहीं रहती। यद्यपि द्विवेदी जी साहित्य की अपेक्षा भाषा के अधिक बड़े आचार्य थे पर साहित्य मे भी उनकी पैनी निगाह पहुँच कर ही रही।

जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिन्दी मे प्रस्तुत किये गये उन्हे देखते हुए यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रन्थो का प्रस्तुत किया जाना किसी समुन्नत साहित्य-युग में सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति मे परिवर्तन हो चला। आँखे खुलीं और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द मे नहीं है, वह तो मानव सवेदना के विस्तार मे है। नायक-नायिका कवि जी की कल्पना मे निर्माण होने के लिए नहीं है। प्रगतिशील संसार की नानाविधि परिस्थितियो और सुख-दुख की तरंगों में डूबने-उतराने और घुल कर निखरने के लिए हैं और काव्यकला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्द-कोष के पन्ने उलटने मे नहीं।

यह प्रकाश हमे इस बार पश्चिम से मिला। सुनने में यह बात आश्चर्यजनक मालूम देती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्व हमने डॉक्टर ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाईंजी के 'मानस' का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप मे आदर अवश्य था, पर काव्य तो विहारीलाल, पद्माकर और केशव का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उसके पहले क्या उसके पीछे भी हमारे साहित्य मे ऐसे 'अन्वेषकों' की कमी नहीं रही जिन्होंने विहारी की होड़ मे 'देव' को तो ला रक्खा पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। हमारे विश्वविद्यालयों ने इन अन्वेषको को सम्मानपूर्ण डिग्रियों भी दी है। रीतियुग के ये 'अपटूडेट' हिन्दी प्रतिनिधि है।

ठीक इसके विपरीत प० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य मे रीतिकालीन परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। उन्होने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियों के मुकाबले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिलीशरण जी के काव्योत्थान की सराहना की। किसी विशेष वाद अथवा विचारधारा का काव्य में प्रवेश होना ही उसके उत्कर्ष का साधक है, कुछ ऐसी धारणा द्विवेदी जी की थी। आज के कुछ प्रगतिशील आलोचको का भी ऐसा ही मत है। वह विचारधारा या वाद काव्य की अपनी सत्ता के साथ एकाकार हो गया है या नहीं, यह वे नहीं देखना चाहते। मेरे विचार से यह दूसरी हद है। जो कुछ हो, इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदी जी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किये जाने पर भी विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। यही आशा भी की जाती थी।

प्रतिभा किसी कठघरे मे बन्द नहीं रहती। यद्यपि द्विवेदी जी साहित्य की अपेक्षा भाषा के अधिक बड़े आचार्य थे पर साहित्य मे भी उनकी पैनी निगाह पहुँच कर ही रही।

श्री० रामचन्द्र शुक्ल

भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।

यह दावा करते हुए शुक्ल जी ने 'रस और अलकार' आदिकों को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक रूप मे न रहने देकर उन्हे नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया। उन्होंने उच्चतर जीवनसौन्दर्य का पर्याय बना कर 'रस और अलङ्कार' पद्धति का व्यवहार किया।

जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्यसौन्दर्य के साथ 'रस और अलङ्कार' का विन्यास करके 'रस-पद्धति' को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक सवेदना के स्तर पर की कि लोग यह भूल ही गये कि रसों और अलङ्कारो का दुरुपयोग भी हो सकता है।

मेरे कहने का मतलब यह है कि शुक्ल जी ने अपनी उच्च काव्यभावना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की वह उनके लिए ठीक थी। वे स्वतः तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियो की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप-ही-आप स्खलित होने से बचे रहे। उत्थानमूलक, आदर्शवादी विचारणा से उनका कभी सम्पर्क नहीं छूटा।

किन्तु शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हे सभी प्रकार के कवियो से सपर्कित होना पड़ा है। यहाँ शुक्र जी ने अपने समीक्षा सम्बन्धी पैमानो का प्रयोग अधिकतर सफलता के साथ किया है कि उनका साहित्यिक इतिहास कवियो और काव्य-धाराओ के मूल्य निर्धारण में त्रुटिपूर्ण नहीं प्रतीत होता।

अवश्य जहाँ-जहाँ और जब-जब शुक्र जी ने अपनी काव्यमाप मे कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिए कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध-रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण-पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने मे कठिनाई हुई है। डी० एल० राय मे रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतर भावसवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है। इसी के फलस्वरूप उन्हें हिन्दी के आधुनिक कवियो मे भी कुछ अनधिकारियो अथवा अल्प अधिकारियों को उचित से अधिक महत्त्व देना पड़ा है।

भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य को साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।

यह दावा करते हुए शुक्ल जी ने 'रस और अलकार' आदिको को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक्त रूप मे न रहने देकर उन्हे नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया। उन्होंने उच्चतर जीवनसौन्दर्य का पर्याय बना कर 'रस और अलङ्कार' पद्धति का व्यवहार किया।

जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्यसौन्दर्य के साथ 'रस और अलङ्कार' का विन्यास करके 'रस-पद्धति' को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक संवेदना के स्तर पर की कि लोग यह भूल ही गये कि रसों और अलङ्कारो का दुरुपयोग भी हो सकता है।

मेरे कहने का मतलब यह है कि शुक्ल जी ने अपनी उच्च काव्यभावना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की वह उनके लिए ठीक थी। वे स्वतः तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा मे प्रवृत्त हुए जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप-ही-आप स्खलित होने से बचे रहे। उत्थानमूलक, आदर्शवादी विचारणा से उनका कभी सम्पर्क नहीं छूटा।

किन्तु शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हे सभी प्रकार के कवियो से सपर्कित होना पड़ा है। यहाँ शुक्ल जी ने अपने समीक्षा सम्बन्धी पैमानो का प्रयोग अधिकतर सफलता के साथ किया है कि उनका साहित्यिक इतिहास कवियों और काव्य-धाराओं के मूल्य निर्धारण में त्रुटिपूर्ण नहीं प्रतीत होता।

अवश्य जहाँ-जहाँ और जब-जब शुक्ल जी ने अपनी काव्यमाप मे कुछ व्यक्तिगत रुचियो को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिए कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध-रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओ में सगुण-पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने मे कठिनाई हुई है। डी० एल० राय में रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतर भावसवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है। इसी के फलस्वरूप उन्हें हिन्दी के आधुनिक कवियों में भी कुछ अनधिकारियो अथवा अल्प अधिकारियो को उचित से अधिक महत्व देना पड़ा है।

अधिक तादात्म्य नहीं स्थापित कर सके जितना उनके जैसे इस क्षेत्र के अधिनायक से आशा की जाती थी।

युग की संवेदनाओं से समीक्षक का घनिष्ट परिचय होना चाहिए। तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियों और प्रेरणाओं से नवीन काव्य का निर्माण हुआ है, जिन नवीन वादों की सृष्टि हुई है और जो नई शैलियाँ साहित्य में अपनाई गई हैं, उनका जब तक परिचय नहीं, तब तक साहित्य का मूल्याङ्कन क्या होगा? किन्तु घनिष्ट-से-घनिष्ट परिचय में भी तटस्थता समीक्षक के लिए अत्यावश्यक है। यह तटस्थता सफल विश्लेषण की पहली शर्त है।

जिस प्रकार शुक्ल जी ने काव्य और कलाओं के सामाजिक सम्पर्क की आवाज़ उठाई, उसी प्रकार उन्होंने रचनाकार की व्यक्तिगत मनस्थिति का भी हवाला दिया है। रचयिता की मनस्थिति का पता लगाना आधुनिक काव्य-विवेचन आवश्यक समझता है। इसके लिए काव्यालोचक आज मनोविश्लेषण-विज्ञान की भरपूर सहायता लेना चाहते हैं। शुक्ल जी के समय यह विज्ञान हिन्दी में कम व्यवहृत हुआ। इसका व्यवहार बड़ी विशेषज्ञता की अपेक्षा रखता है। रचनाकार के काव्यनिर्माण में उसके व्यक्तिगत संस्कारों का हाथ रहता है। वे संस्कार किस हद तक उसके काव्य को ऊँचा उठाते या नीचा गिराते हैं, यह प्रत्येक समीक्षक जानना चाहेगा। किन्तु इसे जानने के साधन उतने आसान नहीं हैं जितना हम अक्सर समझा करते हैं। शुक्ल जी ने इस दिशा में आरंभिक कार्य का सूत्रपात कर दिया था।

रचनाकार की मानसिक स्थिति का विश्लेषण उसके द्वारा निर्माण किये गये काव्यात्मक चरित्रों के आधार पर भी किया जाता है। कोई भी साहित्यिक रचना पढ़ने पर रचयिता के विचारों, उसकी मनोभावना और मूल-प्रेरणा का सामान्य रूप से अन्दाज लग जाता है पर मनोविश्लेषण-शास्त्र द्वारा उस विषय की विशेषज्ञता प्राप्त की जाती है। किन्तु यदि रचनाकार के साथ अन्याय नहीं करना है तो बहुत अधिक सतर्कता के साथ हमें निर्णय करना होगा।

शुक्ल जी बहुत अधिक वादों के पक्षपाती नहीं थे। यूरोप के साहित्यिक क्षेत्रों में जो शीघ्र-शीघ्र वाद-परिवर्तन होते रहे हैं उन पर शुक्ल जी की आस्था नहीं थी। वे उन्हें बदलते हुए फैशन जैसी चीज समझते थे। उनका ऐसा समझना एक दृष्टि से ठीक भी है। पर इस विषय में एक दूसरी दृष्टि भी है; वह यह कि यूरोप का साहित्य अतिशय समृद्ध

स्थित है। शुक्ल जी के विचारो मे हिन्दू-समाज-पद्धति और आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उसे एक सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप शुक्ल जी ने दिया है। वह कहाँ तक व्यवहार्य है, यह एक दूसरा प्रश्न है। वह कहाँ तक नई विचारधारा और शब्दावली से मेल खाती है, यह और भी अलग प्रश्न है।

यदि शुक्ल जी मे अपने समय और समाज की सीमाएँ है तो सवाल यह है कि इन सीमाओं से बचा कौन है? महत्त्व सीमाओं का नहीं है महत्त्व है सीमाओं के भीतर किये गये काम का। शुक्ल जी ने अपने समय की एक अर्द्धजागृत साहित्य-चेतना को दिशाज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं स्वय आगे-आगे चले और मंजिल तय किये। विपर्यस्त लक्षण-ग्रन्थो की परम्परा को साहित्य-शास्त्र की पदवी पर पहुँचाया, उसे आदर्शात्मक स्वरूप दिया। अपने उच्चकोटि के व्यक्तित्व और अध्ययन की छाप वे साहित्य पर छोड़ गये हैं। प्राजलता और महाकाव्योचित औदात्य के लिए यह युग शुक्ल जी को स्मरण करेगा। साहित्य-समीक्षक की हैसियत से सब से बड़ी बात शुक्ल जी मे यह नहीं है कि उन्होने उच्चतर काव्य को निम्नतर काव्य से अलग किया, बल्कि उन्होंने वह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर को पहचान सके। यह उनका पहला काम था। तुलसी, जायसी और सूर की समीक्षाओं द्वारा उन्होने हिन्दी-आलोचना को सुदृढ भित्ति पर स्थापित किया। यह भित्ति इतनी मजबूत है जितनी भारत की किसी भी प्रान्तीय भाषा की भित्ति हो सकती है। शुक्ल जी की सब से बड़ी विशेषता है समीक्षा के सब अगों का समान रूप से विन्यास। अन्य प्रान्तीय भाषाओं मे समीक्षा के किसी एक अंग को लेकर शुक्लजी की टक्कर लेने वाले अथवा उनसे विशेषता रखने वाले समीक्षक मिल सकते है पर सब अगो का समान विकास उनका-सा कोई कर सका है, मैं नहीं जानता। जितना उत्कर्ष उन्हे साहित्य के सिद्धान्तो का निरूपण करने में प्राप्त हुआ उतनी ही दक्षता उन्हे उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग करने मे हासिल हुई। पाडित्य मे उनकी अप्रतिहत गति थी, विवेचना की उनमे विलक्षण शक्ति थी। वे आलोचक या समीक्षक मात्र नहीं थे, सच्चे अर्थ मे साहित्य के आचार्य थे।

समीक्षक की हैसियत से शुक्ल जी का आदर्श बहुत ऊँचा है और उनका एक सदेश है जिसे आज के समीक्षकों को स्मरण रखना चाहिए। वह सन्देश यह है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक अंग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिए बल्कि वह सब अङ्गो को ध्यान मे रख कर की जानी चाहिए। आज हिन्दी में जो कोई समीक्षा के जिस किसी कोने को पकड़ पाता है उसे ही खींच चलता है। यह समझने की ज़रूरत

आ॰ रामचंद्र शुक्ल (२)

आचार्य प॰ रामचन्द्र शुक्ल रस-सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी है किन्तु उन्होंने 'रस' तत्व को एक विशेष अर्थ मे ग्रहण किया है। बङ्गाल के स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय ने काव्य मे जिस वाह्यद्वंद्व और अन्तर्द्वंद्व का उल्लेख किया है, और अपने नाटको मे जिसके उद्वेगपूर्ण चित्र दिखाये हैं उन्ही द्वंद्वो का हवाला शुक्ल जी अपने ढङ्ग से देते हैं। वे रवि बाबू की आदर्शोन्मुख काव्य-समीक्षा को टाल्सटॉय की प्रतिध्वनि बतलाते हैं और द्विजेन्द्रलाल द्वारा की गई रवि बाबू के गीतो की आलोचना का समर्थन करते हैं। वे 'करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियो के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने मे तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने मे' अधिक सौन्दर्य देखते है। वे कहते हैं कि हम करुणा और क्रोध के इसी सामञ्जस्य मे मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं। सचमुच 'आलम्बन', 'उद्दीपन', 'आश्रय' आदि बडी आसानी से इस प्रकार की कविता मे मिल सकेंगे और रस की अधिक से अधिक ('रस' में कम-बेशी का प्रश्न भी उठ सकता है) निष्पत्ति भी हो सकेगी। शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठित शास्त्र-पक्ष का पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है, और शायद किसी बात की कमी नहीं रह जाती।

यदि कुछ कमी रह जाती है तो दोष किसी का नहीं है, दोष है युग की गति का। शुक्ल जी ने अपने पक्ष-समर्थन मे वाल्मीकि की रामायण का निदर्शन दिया है पर वह निदर्शन यहां उपयुक्त न होगा। महाकाव्यो, वर्णनात्मक प्रसङ्गो आदि का स्थान उपन्यास और आख्यायिकाएँ ले रही हैं, इसलिए शुक्ल जी का उपर्युक्त विश्लेषण उनमें (उपन्यासों आदि में) अच्छी तरह चरितार्थ होता है। उपन्यासों की रसात्मकता के कारण आज वे खूब चाव से पढे जाते हैं, कुछ थोडे से उत्कृष्ट वर्णनात्मक काव्यो की ओर भी अच्छी लोक-रुचि है पर काव्य की आधुनिक प्रवृत्ति मधुर गीतो द्वारा आत्म-निवेदन करने की है। जहाँ आत्मनिवेदन नहीं किया जाता, वहाँ लघु रमणीय छन्दो मे प्रेम की, सौन्दर्य की और प्रकृति की अत्यन्त मर्मस्पर्शी विवृत्ति करने की चेष्टा की जाती है, जिसकी परिणति भी आत्मनिवेदन मे ही है।

श्री० रामचंद्र शुक्ल (२)

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल रस-सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी हैं किन्तु उन्होंने 'रस' तत्व को एक विशेष अर्थ मे ग्रहण किया है। बङ्गाल के स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय ने काव्य मे जिस बाह्यद्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व का उल्लेख किया है, और अपने नाटको मे जिसके उद्वेगपूर्ण चित्र दिखाये हैं उन्ही द्वन्द्वो का हवाला शुक्ल जी अपने ढङ्ग से देते हैं। वे रवि बाबू की आदर्शोन्मुख काव्य-समीक्षा को टाल्सटॉय की प्रतिध्वनि बतलाते है और द्विजेन्द्रलाल द्वारा की गई रवि बाबू के गीतो की आलोचना का समर्थन करते हैं। वे 'करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितो और अत्याचारियो के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने मे तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में अधिक सौन्दर्य देखते है। वे कहते हैं कि हम करुणा और क्रोध के इसी सामञ्जस्य मे मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते है। सचमुच 'आलम्बन', 'उद्दीपन', 'आश्रय' आदि बडी आसानी से इस प्रकार की कविता में मिल सकेंगे और रस की अधिक से अधिक ('रस' में कम-बेशी का प्रश्न भी उठ सकता है) निष्पत्ति भी हो सकेगी। शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठित शास्त्र-पक्ष का पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है, और शायद किसी बात की कमी नही रह जाती।

यदि कुछ कमी रह जाती है तो दोष किसी का नहीं है, दोष है युग की गति का। शुक्ल जी ने अपने पक्ष-समर्थन मे वाल्मीकि की रामायण का निदर्शन दिया है पर वह निदर्शन यहाँ उपयुक्त न होगा। महाकाव्यो, वर्णनात्मक प्रसङ्गो आदि का स्थान उपन्यास और आख्यायिकाएँ ले रही हैं, इसलिए शुक्ल जी का उपर्युक्त विश्लेषण उनमे (उपन्यासो आदि मे) अच्छी तरह चरितार्थ होता है। उपन्यासो की रसात्मकता के कारण आज वे खूब चाव से पढे जाते है, कुछ थोडे से उत्कृष्ट वर्णनात्मक काव्यो की ओर भी अच्छी लोकरुचि है पर काव्य की आधुनिक प्रवृत्ति मधुर गीतों द्वारा आत्म-निवेदन करने की है। जहाँ आत्मनिवेदन नहीं किया जाता, वहाँ लघु रमणीय छन्दो मे प्रेम की, सौन्दर्य की और प्रकृति की अत्यन्त मर्मस्पर्शी विवृत्ति करने की चेष्टा की जाती है, जिसकी परिणति भी आत्मनिवेदन मे ही है।

करेंगे। इनके अतिरिक्त प्रेममूलक अथवा दार्शनिक रहस्यवाद के ब्लेक आदि कवि भी हैं। इन पिछले प्रकार के कवियों की रहस्यभावना बहुत कुछ स्वाभाविक थी परन्तु पीछे से कविता को साम्प्रदायिक अनुभूतियों का प्रकाशन-साधन बना लेने वाले कुछ धर्म-गुरु हुए जिन्होंने रहस्यवाद को धार्मिक सीमा मे ले जाकर बाँध दिया। पर इससे वास्तविक रहस्यकाव्य की उत्कृष्टता में कोई बट्टा नहीं लगता।

रसवादी काव्य की आत्मा रस को अलौकिक मानते हैं। यह अलौकिकता का पाखंड केवल यहीं तक रहता तो एक बात थी। यह जिस असत्य आधार पर स्थित हुआ उसने साहित्य का बड़ा अनिष्ट किया है। अलौकिकता के नाम पर बेधड़क लौकिकता ही बढ़ती गई और धीरे-धीरे उसने जो स्वरूप धारण किया वह बड़ा ही हेय हुआ। एक बार अलौकिकता की प्रतिष्ठा कर न जाने कितने उच्छृङ्खल कवियों ने न जाने कितनी सप्तशतियों की सृष्टि की, जिनमें आदि से अन्त तक अलौकिक भाव का सम्पूर्ण अभाव रहा। हमको स्पष्ट कह देना चाहिए कि इस अलौकिकता का पल्ला पकड़ कर कवि गण साधारण-जन-समाज के सिर पर चढ़ गये और वहाँ से स्वय अनियन्त्रित रह कर हमारा नियन्त्रण करने लगे। इस प्रकार जन-समाज का नियन्त्रण न रहने के कारण कविता व्यक्तिगत हो गई, और यही कारण है कि मध्यकाल की सस्कृत कविता मे ह्रासोन्मुख भारतीय जीवन की ही छाप देख पड़ती है। इस विपथ-गामिनी धारा को रोकने वाला एक भी दृढ़ और अटल आलोचक नहीं हुआ जो साहसपूर्वक साहित्य का सन्मार्ग दिखाता। यह शोचनीय बात हुई कि जब शङ्कर, रामानुज और वल्लभ जैसे महापुरुषों का आविर्भाव हुआ था तब साहित्य पूर्णत. कलुषित हो रहा था तथापि उसे अलौकिक समझ कर उसके सस्कार करने की बात करना भी शायद अनुचित समझा गया।

आज जो साहित्यिकों की एक जाति ही अलग बनती चली जा रही है उसका कारण भी साहित्य की अलौकिकता है। हम 'कला के लिए कला' वालों को व्यर्थ ही दोष देते हैं। हमारा अलौकिकानन्द विधायक रसवाद भी उससे कम नहीं रह गया था। मध्य-काल के ग्रन्थो में देखिए, कवि को पान खाने, अच्छी पोशाक पहनने, सुगन्धि-सेवन करने आदि की जो विधियाँ बतलाई गईं वे आगे चल कर उन दरबारी कवियों की सृष्टि करने मे सहायक हुईं जिन्हें हम कवि कहना भी कवित्व का तिरस्कार मानेंगे।

'अलकारो के झुनझुना' से रसवादी का कोई अभिन्न सम्बन्ध नहीं है, बल्कि रसवादी तो अलकार-वादियों का विरोध करते हैं आदि अनेक बातें पारिभाषिक दृष्टि से चाहे सत्य भी हों पर व्यवहार में तो कुछ और ही देख पड़ता है। आज तो रसो

अब अवलोक शोक यह तोरा, सहै कठोर निठुर उर मोरा।
निज जननी के एक कुमारा, तात तासु तुम प्राण अधारा।
सौंपेउ मोहि तुमहिं गहि पानी, सब विधि सुखद परमहित जानी।
उतर ताहिं दैहौं का जाई, उठि किन मोंहि सिखावहु भाई।

सम्पूर्ण कविता अलङ्कार-हीन होती हुई भी हृदय पर पूर्ण अधिकार कर लेती है। ससार के सब बड़े कवियो की महान् रचनाएँ इसी प्रकार की हैं और यूरोपीय समीक्षा-कार इसी के समर्थन में शक्तिशाली तर्क उपस्थित करने लगे है। हम हिन्दी वालों को इस तत्व को ग्रहण करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता मे अलङ्कार वही काम करते हैं जो दूध मे पानी। कविता फीकी पड़ जाती है। वह अपना सत्य स्वरूप खो कर नकली आवरण धारण करती है और अनेक प्रकार से पतित होती है।

इस युग मे आरामवलनी का स्थान एक प्रकार की सामूहिक कृत्रिशीलता ले रही है। सामूहिक मनोविज्ञान घुमाव-फिराव के पक्ष में नहीं है, वह सरल, तीक्ष्ण सत्य चाहता है। हमारे कुछ कवि इस ओर झुके देख पड़ते हैं—

किसी हृदय का यह विषाद है। छेड़ो मत यह सुख का कण है॥
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ। यह करुणा का थका चरण है॥

—प्रसाद

× × ×

आह यह मेरा गीला गान वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन चरण-चरण है आह
कथा है करुण अथाह बूंद मे है बाड़व की दाह

—पन्त

प्राचीन-विधि में बँध कर समीक्षा करने वाले एक समीक्षक इन कविताओं में आये हुए 'विषाद', 'करुणा' आदि शब्दो को नियम-विरुद्ध बतलाते हैं। इस प्रकार की समीक्षा साहित्य मे अन्ध-विश्वास की वृद्धि करती है और व्यक्तिगत अनुभूति का

अब अवलोक शोक यह तोरा, सहै कठोर निठुर उर मोरा।
निज जननी के एक कुमारा, तात तासु तुम प्राण अधारा।
सौंपेउ मोहि तुमहिं गहि पानी, सब विधि सुखद परमहित जानी।
उतर ताहिं देहौं का जाई, उठि किन मोंहि सिखावहु भाई।

सम्पूर्ण कविता अलङ्कार-हीन होती हुई भी हृदय पर पूर्ण अधिकार कर लेती है। ससार के सब बड़े कवियो की महान् रचनाएँ इसी प्रकार की हैं और यूरोपीय समीक्षाकार इसी के समर्थन मे शक्तिशाली तर्क उपस्थित करने लगे हैं। हम हिन्दी वालो को इस तत्व को ग्रहण करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता मे अलङ्कार वही काम करते हैं जो दूध में पानी। कविता फीकी पड़ जाती है। वह अपना सत्य स्वरूप खो कर नकली आवरण धारण करती है और अनेक प्रकार से पतित होती है।

इस युग मे आरामतलबी का स्थान एक प्रकार की सामूहिक कृतिशीलता ले रही है। सामूहिक मनोविज्ञान घुमाव-फिराव के पक्ष में नहीं है; वह सरल, तीक्ष्ण सत्य चाहता है। हमारे कुछ कवि इस ओर झुके देख पड़ते हैं—

किसी हृदय का यह विषाद है। छेड़ो मत यह सुख का कण है॥
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ। यह करुणा का थका चरण है॥

—प्रसाद

× × ×

आह यह मेरा गीला गान वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन चरण-चरण है आह
कथा है करुण अथाह बूँद मे है वाड़व की दाह

—पन्त

प्राचीन-विधि में बँध कर समीक्षा करने वाले एक समीक्षक इन कविताओं में आये हुए 'विषाद', 'करुणा' आदि शब्दो को नियम-विरुद्ध बतलाते हैं। इस प्रकार की समीक्षा साहित्य मे अन्ध-विश्वास की वृद्धि करती है और व्यक्तिगत अनुभूति का

मात्र) एक श्रेणी मे रख दिये गये जिससे समस्त साहित्यिक विवेचन नाट्य-शरीर के विश्लेषण तक ही सीमित रहा, कोई सश्लिष्ट, प्रगतिशील शक्तिशाली साहित्य-समीक्षा नहीं की जा सकी न किन्ही व्यापक, सारग्राही सिद्धान्तो का निरूपण किया जा सका। फिर जब रूपको का रसवाद अपने सम्पूर्ण सरजाम के साथ काव्य मे लाकर चरितार्थ किया गया तब तो साहित्य-समीक्षा और भी विलक्षण हो गई। सारा काव्य विवेचन शब्द और अर्थ मे सीमित हो गया। पिछले जमाने के साहित्य-शास्त्रियो ने अपने को कवि कहने मे जिस धृष्ट मनोवृत्ति का परिचय दिया, हमारी रस-समीक्षा-पद्धति उसका विरोध नहीं कर सकी। आज जब नवीन शैलियो का प्रश्रय लेकर आलोचक वर्ग उसका विरोध करते है और अनेक ख्यातिलब्ध कवियो को मध्यम या निकृष्ट श्रेणी का बतलाते हैं तब कुछ लोगो के सामने आश्चर्य की एक चकाचौध-सी छा जाती है।

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ गौरवम् दण्डिन. पद लालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणा॰

उपर्युक्त उद्धरण सस्कृत काव्य-समीक्षा मे खूब प्रचलित है किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उपमा' 'अर्थ-गौरव' और 'पदलालित्य' के आलङ्कारिक आधार पर सस्कृत काव्य-समीक्षा स्थिर हो गई थी। यह भी अभिव्यजनावाद का ह्रासोन्मुख स्वरूप ही है क्योकि यह काव्य का उत्कर्ष अभिव्यक्ति-शैली मे ही मानता है। शुक्ल जी 'क्रोसे' के अभिव्यजनावाद का विरोध करते है, और 'कला के लिए कला'' सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते हैं जब कि क्रोसे और ब्रेडले जैसे कलावादियों ने अभिव्यजना या कलावाद के मूल मे उत्कृष्टतम मानसिक तत्त्व और प्रतिभा का अध्याहार कर दिया है। इस श्लोक के अनुयायी वैसा कोई अध्याहार नहीं कर सके है फिर भी यह रस-मत के अनुयायियों मे धंधले से चल रहा है। इससे क्या अनुमान न लगाया जाय कि अभिव्यजनावाद का शुक्ल जी द्वारा किया गया विरोध केवल विरोध के लिए है? उन्होंने इस मत के प्रवर्तक क्रोसे की समस्त आपत्तियों को एक किनारे रख कर केवल 'अभिव्यजना' शब्द मात्र पकड़ लिया है। इस प्रकार तो किसी भी काव्यवाद का खण्डन किया जा सकता है। किन्तु ऐसे खण्डन का क्या मूल्य है, यह तो हम समझ ही सकते हैं।

यदि शुक्ल जी यह कहें कि अभिव्यजनावाद की भित्ति स्वभावत. निःशक्त है क्योंकि यह काव्य की मानसिक भूमि और सामाजिक आधार का लेखा नहीं लगाती, उनसे असम्पर्कित रहती है, तो हम यह कहेंगे कि क्रोसे और अन्य कलावादियो का यह पक्ष ही नग्न था। शुक्ल जी का 'लोकधर्म' भी जीवन के प्रगतिशील स्वरूपों का आकलन नहीं करता। वह रूढ़ि बद्ध हो कर श्रेष्ठ काव्य की पहचान मे असफल सिद्ध हुआ है। इसका कारण

पूर्ण उपेक्षा की। और लोकधर्म भी उनका एक गतिहीन निरूपण ही सिद्ध हुआ, कोई प्रगतिशील और जागरूक स्वरूप उसे न मिल सका। नियमों की स्थिरता और एकरूपता ने उसके प्रति विद्रोह उत्पन्न कर दिया है।

आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि वे अभिव्यक्तिवादी हैं। उनका कहना है कि यह अनन्त रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है, हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है। वे व्यंग्य करते हैं कि जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाष, लालसा या वियोग के नीरव-सरव क्रन्दन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्यभूमि समझते हैं, उन्हें जगत् की अनेकरूपता और हृदय की अनेक-भावात्मकता के सहारे अन्धकूपता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए। यह भी सही। किन्तु यदि किसी ने भूले-भटके वैसी फिक्र की तो अनेकरूपता के नाम पर सौ-डेढ़सौ नायक नायिकाओं का गोरखधन्धा तथा अनेकभावात्मकता के बदले एक स्थूल, अगतिशील नीतिचक्र ही हाथ लगेगा।

यह अभिव्यक्तिवाद व्यवहार में आने पर लघुचित्रवाद बन जाता है। भिन्न-भिन्न रूप-चेष्टाएँ जब भिन्न-भिन्न भावों को अपनी ओर प्रवृत्त करती है तब सबका छिन्न भिन्न हो जाना उचित ही है। एकतान भावनाओं के प्रसार का कोई साधन नहीं रह जाता।

इसका कुछ प्रबन्ध करना ही होगा अन्यथा अभिव्यक्तिवाद बेकार हो जायगा। आधुनिक युग विराट् भावनाओं का युग है। विश्वबन्धुत्व, विश्वैक्य आदि के आदर्श प्रचलित हुए हैं। कविताएँ भी उसी के अनुरूप होगी और काव्य-समीक्षा को भी उतना ही व्यापक और सतर्क बनना होगा। बाबू जयशङ्कर प्रसाद की एक कविता देखिए—

तुम कनक किरण के अन्तराल में, लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
नत-मस्तक गर्व वहन करते यौवन के घन रसकन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में, कल-कल ध्वनि की गुंजारों में
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल, अपनी पीते रहते हो क्यों ?
बेला विभ्रम की बीत चली, रजनीगंधा की कली खिली
अब सान्ध्य मलय आकुलित दुकूल कलित हो यों छिपते हो क्यों ?

पूर्ण उपेक्षा की। और लोकधर्म भी उनका एक गतिहीन निरूपण ही सिद्ध हुआ, कोई प्रगतिशील और जागरूक स्वरूप उसे न मिल सका। नियमों की स्थिरता और एकरूपता ने उसके प्रति विद्रोह उत्पन्न कर दिया है।

आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि वे अभिव्यक्तिवादी हैं। उनका कहना है कि यह अनन्त रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है, हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है। वे व्यंग्य करते हैं कि जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाप, लालसा या वियोग के नीरव-सरव क्रन्दन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्यभूमि समझते हैं, उन्हें जगत् की अनेकरूपता और हृदय की अनेक-भावात्मकता के सहारे अन्धकूपता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए। यह भी सही। किन्तु यदि किसी ने भूले-भटके वैसी फिक्र की तो अनेकरूपता के नाम पर सौ-डेढ़सौ नायक-नायिकाओं का गोरखधन्धा तथा अनेकभावात्मकता के बदले एक स्थूल, अगतिशील नीतिचक्र ही हाथ लगेगा।

यह अभिव्यक्तिवाद व्यवहार में आने पर सङ्कुचितवाद बन जाता है। भिन्न-भिन्न रूप-चेष्टाएँ जब भिन्न-भिन्न भावों को अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं तब सबका छिन्न-भिन्न हो जाना उचित ही है। एकतान भावनाओं के प्रसार का कोई साधन नहीं रह जाता।

इसका कुछ प्रबन्ध करना ही होगा अन्यथा अभिव्यक्तिवाद बेकार हो जायगा। आधुनिक युग विराट् भावनाओं का युग है। विश्वबन्धुत्व, विश्वैक्य आदि के आदर्श प्रचलित हुए हैं। कविताएँ भी उसी के अनुरूप होंगी और काव्य समीक्षा को भी उतना ही व्यापक और सतर्क बनना होगा। बाबू जयशङ्कर प्रसाद की एक कविता देखिए—

> तुम कनक किरण के अन्तराल में, लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
> नत-मस्तक गर्व वहन करते यौवन के घन रसकन ढरते
> हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?
> अधरों के मधुर कगारों में, कल-कल ध्वनि की गुंजारों में
> मधु सरिता-सी यह हँसी तरल, अपनी पीते रहते हो क्यों ?
> बेला विभ्रम की बीत चली, रजनीगंधा की कली खिली
> अब सान्ध्य मलय आकुलित दुकूल कलित हो यों छिपते हो क्यों ?

श्री० रामचन्द्र शुक्ल (३)

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हिन्दी मे द्विवेदी-युग की पूर्ण प्रतिष्ठा का निमित्त हुआ। जिस नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी-युग प्रतीक है, उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा देने का श्रेय शुक्लजी को प्राप्त है। शुक्ल जी ने अपनी साहित्यिक आलोचनाओं मे तो उन्हे अपनाया ही, उनके लिए एक दार्शनिक नींव भी तैयार की, जिससे हिन्दी मे एक नये युग का प्रवेश हुआ। अपने युग की नैतिक, आदर्शात्मक और बौद्धिक प्रगतियो की पुष्टि के लिए शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस और जायसी के पद्मावत को चुना जो दोनों ही महाकाव्य है, जिनमे स्वभावत. बाह्य-जीवन की परिस्थितियो का बाहुल्य है, जिन्हे आवश्यकतानुसार शुक्लजी अपने उपयोग में लाये है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी के दूसरे महाकवि सूरदास को भी अपनी काव्य-मीमांसा के लिए छाँटा और उनके काव्य को अपने नीतिमूलक आदर्शवादी विचारों के साँचे मे ढालना चाहा, किन्तु इस कार्य मे उन्हें आंशिक सफलता ही मिल सकी है। इसका कारण स्पष्ट ही यह है कि सूरदासजी न तो कोई कथाकार हैं, जिनमे बाह्य-जीवन का वैविध्य देखने को मिले और न वे द्विवेदी-युग की नैतिक या बौद्धिक मर्यादा के कायल है। प्रेम के तराने अलापनेवाला कवि वैसी किसी मर्यादा का कायल हो भी नहीं सकता—आत्म-समर्पण की मर्यादा तो पूर्ण समर्पण मे ही है। इसलिए शुक्लजी ने यहाँ ऐसी गौण बातो की जिज्ञासा से ही सन्तोष कर लिया है कि गोपीकृष्ण प्रेम के आविर्भाव की परिस्थितियाँ कैसी है, महलोवाला विलासी प्रेम तो उनका नहीं है, आदि-आदि। अवश्य ही यह द्विवेदी-युग की दार्शनिकता के अनुकूल है, किन्तु सूरदासजी के सङ्गीत का माधुर्य इन जिज्ञासाओं से ही व्यक्त नहीं हो सकता। न वह इनका अपेक्षी ही है। उसकी माप तो उसके स्वरो मे ही छिपी है और छिपी है वह हमारे सवेदनशील हृदयो मे। भावात्मक अथवा रहस्यात्मक काव्य बाहरी दुनिया की अपेक्षा हृदय की टोह पर ही अधिक अवलम्बित है। अवश्य ही यदि हृदय सच्चा है तो बाहरी दुनिया भी उसकी महत्ता स्वीकार करेगी, यद्यपि मूर्त व्यापारों, परिस्थितियों और व्यवहारो मे व्यस्त रहनेवाली बुद्धि हृदय की गहराई की थाह और उसके निगूढ स्रोतो से उत्सर्जित होनेवाले स्वच्छ और विशुद्ध जीवन-रस का आस्वाद ज़रा देर से ही पा सकेगी। यहाँ

का सौन्दर्य इन उभय पक्षों के पूर्ण परिपालन मे ही है. किन्तु साथ ही हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि रामचरितमानस के लोक-धर्म की नीव एक मात्र कर्तव्य-निष्ठा पर ही अवलम्बित है। इसमे अधिकारो और कर्तव्यो का दोहरा पक्ष नहीं है। जैसा कि मै कह चुका हूँ व्यक्ति की दृष्टि से यह पूर्ण त्यागमय धर्म है। दार्शनिक शब्दावली मे इसे ही अनासक्त कर्म योग कहते है। स्मरण रखना चाहिए कि यह पाश्चात्य व्यावहारिक दर्शन नहीं है जिसमें कुछ लेकर कुछ देना पड़ता है, यह है भारतीय कर्म-योग जिसमें व्यक्ति के लिए पूर्ण स्वार्थ त्याग (सब कुछ देना) और सर्वस्व समर्पण ही धर्म कहलाता है।

रामचरितमानस के इस व्यैयक्तिक त्यागमय पक्ष का जब तक पूर्णत. उद्घाटन नहीं किया जाता तब तक कर्तव्य-पक्ष को उसकी उचित आभा नहीं मिल सकती। शुक्ल जी ने वैराग्यमूलक निष्क्रिय (!) अध्यात्म के मुक़ाबिले इस क्रियाशील लोक-धर्म की आवाज उठाई है जो सुनने मे बड़ी सुहावनी मालूम देती है. किन्तु उन्होने भारतीय लोक-धर्म की त्यागमूलक भित्ति का यथेष्ट विवरण हमारे सामने नहीं रक्खा। वे एक प्रकार से इसकी उपेक्षा भी कर गये है जिसके कारण भारतीय प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग की एक ही भूमि पर खड़ी हुई दार्शनिक शाखाएँ शुक्लजी द्वारा परस्पर विरोधिनी बना दी गई है। स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल मे भी है और निवृत्ति के मूल मे भी। दोनो का आधार एक ही है किन्तु शुक्लजी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति. ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक धर्म दोनो को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है। अवश्य ही शुक्लजी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के लिए अन्यायपूर्ण हो गया है।

मै यह नहीं कहता कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्गों मे कोई अन्तर ही नहीं है और न यही विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि निवृत्ति-मूलक अध्यात्म का हमारी राष्ट्रीय अवनति से कोई सम्बन्ध नहीं (यह तो विषय ही उपस्थित नहीं)। मेरा कहना इतना ही है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के दोनो ही मार्ग पूर्ण व्यक्तिगत त्याग पर अवलम्बित हैं और दोनो का दार्शनिक समन्वय भारतीय धर्म-ग्रन्थों मे उपलब्ध है। रामचरितमानस भी भारतीय धार्मिक परम्परा का ग्रन्थ है। इसलिए मै भी प्रवृत्ति और निवृत्ति मे कोई तात्विक भेद नहीं मानता। यदि शुक्लजी ने इस परम्परा का यथोचित ध्यान रखा होता तो वे इन दोनो का वैषम्य इतनी कट्टरता के साथ न दिखा पाते। भारतीय धर्म और विशेष-कर मध्यकालीन वैष्णव धर्म, ज्ञान भक्ति और कर्म को एक ही दार्शनिक भूमि पर

का सौन्दर्य इन उभय पक्षों के पूर्ण परिपालन में ही है, किन्तु साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रामचरितमानस के लोक-धर्म की नींव एक मात्र कर्तव्य-निष्ठा पर ही अवलम्बित है। इसमें अधिकारों और कर्तव्यों का दोहरा पक्ष नहीं है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ व्यक्ति की दृष्टि से यह पूर्ण त्यागमय धर्म है। दार्शनिक शब्दावली में इसे ही अनासक्त कर्म-योग कहते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि यह पाश्चात्य व्यावहारिक दर्शन नहीं है जिसमें कुछ लेकर कुछ देना पड़ता है, यह है भारतीय कर्म-योग जिसमें व्यक्ति के लिए पूर्ण स्वार्थ-त्याग (सब कुछ देना) और सर्वस्व समर्पण ही धर्म कहलाता है।

रामचरितमानस के इस व्यैयक्तिक त्यागमय पक्ष का जब तक पूर्णतः उद्घाटन नहीं किया जाता तब तक कर्तव्य-पक्ष को उसकी उचित आभा नहीं मिल सकती। शुक्ल जी ने वैराग्यमूलक निष्क्रिय (!) अध्यात्म के मुकाबिले इस क्रियाशील लोक-धर्म की आवाज़ उठाई है जो सुनने में बड़ी सुहावनी मालूम देती है, किन्तु उन्होंने भारतीय लोक-धर्म की त्यागमूलक भित्ति का यथेष्ट विवरण हमारे सामने नहीं रक्खा। वे एक प्रकार से इसकी उपेक्षा भी कर गये हैं जिसके कारण भारतीय प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग की एक ही भूमि पर खड़ी हुई दार्शनिक शाखाएँ शुक्लजी द्वारा परस्पर विरोधिनी बना दी गई हैं। स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल में भी है और निवृत्ति के मूल में भी। दोनों का आधार एक ही है किन्तु शुक्लजी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक धर्म दोनों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है। अवश्य ही शुक्लजी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के लिए अन्यायपूर्ण हो गया है।

मैं यह नहीं कहता कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्गों में कोई अन्तर ही नहीं है और न यही विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि निवृत्ति-मूलक अध्यात्म का हमारी राष्ट्रीय अवनति से कोई सम्बन्ध नहीं (यह तो विषय ही उपस्थित नहीं)। मेरा कहना इतना ही है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के दोनों ही मार्ग पूर्ण व्यक्तिगत त्याग पर अवलम्बित हैं और दोनों का दार्शनिक समन्वय भारतीय धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध है। रामचरितमानस भी भारतीय धार्मिक परम्परा का ग्रन्थ है। इसलिए वह भी प्रवृत्ति और निवृत्ति में कोई तात्विक भेद नहीं मानता। यदि शुक्लजी ने इस परम्परा का यथोचित ध्यान रखा होता तो वे इन दोनों का वैषम्य इतनी कट्टरता के साथ न दिखा पाते। भारतीय धर्म और विशेषतर मध्यकालीन वैष्णव धर्म, ज्ञान भक्ति और कर्म को एक ही दार्शनिक भूमि पर

और गीतो की भावमयता मे अन्तर होता है और यही अन्तर मानस और सूर-सागर मे भी है, किन्तु मानस की क्रिया और सूर-सागर की भावना की प्रेरक शक्तियाँ एक-दूसरे के बहुत निकट हैं—इस पर शुक्लजी ने यथेष्ट विचार नहीं किया। वह प्रेरक शक्ति है आध्यात्मिक इष्ट के प्रति उच्चकोटि का आत्मोत्सर्ग। यह आत्मोत्सर्ग ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो दिशाओं मे साधक को ले जाता है। सूर को यह एक ओर ले गया है तुलसी को दूसरी ओर।

किन्तु शुक्लजी जिस अर्थ मे प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं वह है 'स्पिनोजा' की निरन्तर गतिशील प्रवृत्ति। आप जगत को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता बतलाते हैं और इस सत्ता को निरन्तर परिणामशील ठहराते है। गति ही शाश्वत है, किन्तु यह गति क्या किसी नियम से परिचालित है? शुक्लजी का लक्ष्य गति या प्रवृत्ति का ही आग्रह करना है यद्यपि उन्हे मालूम पड़ रहा है कि वे कितनी कच्ची जमीन पर है। तभी तो उन्होने शाश्वत प्रगति के दो भाग कर दिये—प्रवृत्ति और निवृत्ति और इन दोनो के बीच मे एक वृत्ति और स्थापित की—रागात्मिका वृत्ति। यह सारा प्रयास शुक्लजी का अपना निजी है और यह द्विवेदी-युग की स्थूल नैतिकता को असलियत का जामा पहनाने के लिए है।

क्या मै पूछ सकता हूँ कि जहाँ एकमात्र प्रगति ही, प्रवृत्ति ही तत्व है, वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए स्थान कहाँ? और यह तीसरा तत्व रागात्मिका वृत्ति क्या है? इसका स्वरूप क्या है, क्या यह कोई शाश्वत पदार्थ है? यहाँ हमारा ध्यान नवीन वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी दर्शनो की ओर आकृष्ट होता है जो भौतिक प्रगति और मानवीय व्यावहारिक शक्तियो के बीच दार्शनिक अनुक्रम स्थापित करने की चेष्टा करते है। किन्तु उनकी योजनाओं और शुक्लजी की योजना मे सब से अधिक उल्लेखनीय अन्तर यह है कि वैज्ञानिक योजनाएँ अपने को व्यावहारिक सत्य कह कर घोषित करती है और समय के साथ-साथ नये सांस्कृतिक पहलुओ को ग्रहण करती रहती है, जब कि शुक्लजी एक युग-विशेष के आदर्श को शाश्वत कह कर प्रतिष्ठित करना चाहते है। यदि ऐसा न होता तो प्रवृत्ति और निवृत्ति ऐसे दो शाश्वत नैतिक आदर्शो की स्थापना वे न करते और न उन स्थूल विभागो के बीच एक नित्य रागात्मिका वृत्ति को अधिकार कर लेने देते।

और यदि हम यह मानें कि प्रवृत्ति और निवृत्ति शाश्वत नहीं हैं और रागात्मिका वृत्ति भी सार्वजनीन नहीं है अर्थात् वे तीनो ही देश-काल और व्यक्ति के अनुसार विभिन्न रूप और तत्त्व धारण कर सकती है, तब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि प्रवृत्ति और

सब आवश्यक न भी हो किन्तु शुक्ल जी कोरे काव्यालोचक नहीं हैं। उन्होंने लोक धर्मवादी दार्शनिक का महत्वपूर्ण पद भी अधिकृत किया है। अत. उनसे इन विषयों के विवेचन की आशा की जा सकती थी।

इसी प्रकार शुक्लजी ने यह भी नहीं बताया कि अत्याचारी अत्याचार के लिए क्यों सन्नद्ध होता है। क्या यह उसका सहज गुण है या यह समाज की ही देन है? और अत्याचार की प्रतिक्रिया मे क्रोध का क्या स्थान है? क्या वह आवश्यक है? यदि आवश्यक है, तो अत्याचार के प्रति या अत्याचारी व्यक्ति के प्रति अथवा उस समाज या सिद्धान्त के प्रति, व्यक्ति में जिसकी अभिव्यक्ति हुई है? इन व्यावहारिक प्रश्नों की भी उन्होंने छान-बीन नहीं की। इस कारण हम उन्हे लोक-धर्म के आदर्श का पुजारी उसके महाकाव्योचित उदात्त स्वरूप का भक्त भले ही मान ले, लोक-धर्म का दार्शनिक विवेचक उन्हे बहुत ही स्थूल अर्थ में कहा जा सकता है।

रामचरितमानस आदर्श प्रधान काव्य है और उसकी राम-राज्य की कल्पना तो एक-दम ही स्वर्गीय है। उसमे समाज के व्यावहारिक स्वरूपों और अवश्यम्भावी परिवर्तनों को कहीं भी स्थान नहीं। राम-राज्य का वर्णन और कलियुग का वर्णन एक साथ पढने पर मध्यकालीन समाज व्यवस्था के सद्गुणों और दुर्गुणों का औसत लगाया जा सकता है। उससे हमें यह भी पता लगता है कि धर्म और अधर्म के अन्तर्गत समाज मे किस प्रकार की रीतियाँ प्रचलित हो रही थीं। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए गोस्वामीजी ने अच्छी सामग्री एकत्र कर दी है। किन्तु शुक्लजी ने राम राज्य को राम-राज्य (सत) और कलियुग को कलियुग (असत्) कह कर उन्हे विरोधी शिविरों में स्थान दे दिया है। कोई भी आधुनिक समाज-शास्त्री अथवा इतिहास का अध्येता इतनी आसानी से इस सारी सामग्री को किनारे नहीं लगा सकता जिस आसानी से शुक्लजी ने उसे चलता कर दिया है। इन सब निदर्शनों से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ वह यह है कि शुक्लजी का विवेचन न तो प्राचीन दार्शनिक पद्धति का अनुसरण करता है और न वे उस प्रकार के सांस्कृतिक और समाज-शास्त्रीय अध्ययन मे प्रवृत्त हुए हैं जो आज की आलोचना का आवश्यक अङ्ग है।

यह तो हुई दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक अध्ययन की बात. जहां तक काव्य-विवेचन का प्रश्न है शुक्लजी ने सर्वथा असङ्ग होकर काव्य को नहीं देखा, व्यक्तिगत आदर्शों और विचारों की छाया से उसे ढक रखा है। मुक्तक काव्य, गीत आदि के प्रति उनके विरोधी संस्कारों का आभास हम ऊपर दिखा चुके हैं। काव्य के

जिक प्रगति, नवीन समस्याओ और प्रश्नो के अनुरूप नये साहित्यिक सृजन और नवीन अध्ययन-शैलियो का स्वागत किया जाय। इसमे तो सन्देह ही क्या है कि इस स्वतन्त्रता के साथ-साथ अनीप्सित उच्छृङ्खलता भी साहित्य मे आवेगी और बहुमुखी अध्ययन के साथ बहुत-सा वितण्डावाद भी फैलेगा, किन्तु इसके लिए हमे तैयार रहना होगा। कड़ा पहरा देना होगा, किन्तु द्वार हम नहीं बन्द कर सकते। द्वार बन्द करने का अर्थ तो होगा साहित्य को पुराने वातावरण मे घुट-घुट कर मरने देना। ऐसा हम कदापि नहीं कर सकते। साहित्य हमारे जीवन का, हमारे प्राणो का प्रतिनिधि है। उसे नवीन जीवन से, नये वायु-मण्डल से पृथक् नहीं रखा जा सकता। जो मुसीबतें आवे उन्हे झेलना होगा, किन्तु जीवन की गति अवरुद्ध नहीं की जा सकती। भिक्षुक आवेंगे इस भय से भोजन बनाना नही बन्द किया जा सकता। जानवर चर जायँगे इस भय से खेती करना नहीं छोड़ा जाता। ये पुरानी कहावते हैं और हमारे साहित्य मे भी लागू होती हैं।

साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा मे जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु जिसे शुक्लजी ने बार-बार भुला दिया है, वह है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धान्त सीमित हैं, किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है। कोई बन्धन नही है जिसके अन्तर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करे। (सिर्फ सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, किन्तु उस सौन्दर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओ मे नहीं की जा सकती)। इसका यह मतलब नहीं कि काव्यालोचक अपनी आलोचना मे कुछ निष्कर्षों तक नहीं पहुँच सकता, मतलब यह है कि आलोचक अपनी आलोचना के पहले किसी निष्कर्ष विशेष का प्रयोग नहीं कर सकता। उसका पहला और प्रमुख कार्य है कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसन्धान। इस कार्य मे उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि और उसकी सिद्धान्त-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धान्त तो उसमे बाधक ही बन सकते हैं। अवश्य प्रत्येक कला-वस्तु मे सौन्दर्य-सज्जा के अलग-अलग भेद होंगे, उनकी भिन्न-भिन्न कोटियाँ होगी और सम्भव है उन कृतियो के भिन्न-भिन्न दार्शनिक आधार भी हों, किन्तु हमारा काम यह नहीं है कि अपनी अलग रुचि और अलग मत बनाकर काव्य-समीक्षा मे प्रवृत्त हों, क्योंकि तब तो हम उसका सौन्दर्य न देख कर अपने मन की छाया उसमे देखने लगेंगे। यह कला आलोचना की बहुत बड़ी बाधा है। हमे यह कभी नहीं भूलना होगा कि किसी भी सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कभी मतैक्य नहीं हो सकता, किन्तु (कलाकृति के) सौन्दर्य के सम्बन्ध मे कभी दो राये नहीं हो सकती।

णाओं से बहुत सी साहित्य-सृष्टियों के नायक कुरूप और दुःशील हैं फिर भी उनके प्रति पाठक की परिपूर्ण सहानुभूति प्राप्त होती है। और शक्ति के सम्बन्ध में यह कहना अधिक असंगत न होगा कि केवल सुखान्त काव्यों के नायक शक्ति के पूर्ण स्रोत हुआ करते हैं। शेक्सपियर के दुःखान्त महानाटकों की अबला नायिकाएँ अपनी निःशक्तता अपनी विवशता में ही शक्ति का उत्फुल्ल विकास दिखा देती हैं। उन्हें देखने के बाद कौन कह सकता है कि शक्ति शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा कला का कोई अनिवार्य अङ्ग हैं। अवश्य रामचरितमानस के नायक में ये तीनों अवयव उपस्थित हैं, किन्तु इसी कारण हम सर्वत्र इन्हीं का अन्वेषण करें यह भ्रान्ति काव्यालोचना से दूर हो जानी चाहिए।

शुक्लजी का एक तीसरा सिद्धान्त जो इसीसे सम्बद्ध है प्रवृत्ति और निवृत्ति का सिद्धान्त हैं। उसकी दार्शनिक परीक्षा का प्रयास ऊपर किया जा चुका हैं। काव्य में इस प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वरूप हमें रामचरितमानस के आदर्शों को लेकर देखने को मिलता है। राम का चरित्र जहाँ तक है, वहाँ तक हमारी प्रवृत्ति है, रावण का चरित्र जहाँ तक है वहाँ तक निवृत्ति है। उसे हम छोड़ना चाहते हैं। जो वृत्ति हमें राम की ओर लगाती और रावण से अलग करती है वही रागात्मिका वृत्ति है। जहाँ ऐसे दो विरोधी चरित्रों का प्रश्न हो वहाँ तो इससे काम चल जाता है। किन्तु काव्य में ऐसे भेद सर्वत्र देखने को नहीं मिलते। ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब हम यह निर्णय भी नहीं कर पाते कि दो पात्रों में कौन हमारी सहानुभूति का अधिक अधिकारी है और रचयिता के लिए तो सभी पात्र एक से महत्वपूर्ण हैं। सभी में उसका कौशल व्यक्त हुआ है। ऐसी अवस्था में प्रवृत्ति और निवृत्ति का रूढिबद्ध विभाजन अशेष मानव जीवन का सीमा निर्धारण करना ही होगा, जिसका समर्थन आज की साहित्य-मीमांसा किसी प्रकार नहीं कर सकती।

काव्य में प्रकृति के चित्रण सम्बन्धी शुक्लजी की धारणा और प्रियर्सन अनुयायी उनके मानवादर्शवाद के प्रति दो शब्द कह कर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। मानव-जीवन के पुराने सहचर वृक्ष, लता, पगडण्डी, पटपर, लम्बे मैदान, लहराती जलराशि, वर्षा की झड़ी, कोई पालतू या जंगली पशु, हमारी सोई हुई चेतना को जगाने में बहुत समर्थ हैं। अपेक्षाकृत नई चीजें जैसे आज की इमारतें, पार्क, मिल आदि इस कार्य में उतने ही सफल नहीं सिद्ध हो सकते। शुक्लजी का यह कथन एक स्वतन्त्र रचनाकार की हैसियत से समुचित हो सकता है, किन्तु कला की आलोचना

णाओं से बहुत सी साहित्य-सृष्टियों के नायक कुरूप और दुःशील हैं फिर भी उनके प्रति पाठक की परिपूर्ण सहानुभूति प्राप्त होती है। और शक्ति के सम्बन्ध में यह कहना अधिक असंगत न होगा कि केवल सुखान्त काव्यों के नायक शक्ति के पूर्ण स्रोत हुआ करते हैं। शेक्सपियर के दुःखान्त महानाटकों की अबला नायिकाएँ अपनी निःशक्तता अपनी विवशता में ही शक्ति का उत्फुल्ल विकास दिखा देती हैं। उन्हें देखने के बाद कौन कह सकता है कि शक्ति, शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा कला का कोई अनिवार्य अङ्ग हैं। अवश्य रामचरितमानस के नायक में ये तीनों अवयव उपस्थित हैं, किन्तु इसी कारण हम सर्वत्र इन्हीं का अन्वेषण करें यह भ्रान्ति काव्यालोचना से दूर हो जानी चाहिए।

शुक्लजी का एक तीसरा सिद्धान्त जो इसीसे सम्बद्ध है प्रवृत्ति और निवृत्ति का सिद्धान्त है। उसकी दार्शनिक परीक्षा का प्रयास ऊपर किया जा चुका है। काव्य में इस प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वरूप हमें रामचरितमानस के आदर्शों को लेकर देखने को मिलता है। राम का चरित्र जहाँ तक है, वहाँ तक हमारी प्रवृत्ति है, रावण का चरित्र जहाँ तक है वहाँ तक निवृत्ति है। उसे हम छोड़ना चाहते हैं। जो वृत्ति हमें राम की ओर लगाती और रावण से अलग करती है वही रागात्मिका वृत्ति है। जहाँ ऐसे दो विरोधी चरित्रों का प्रश्न हो वहाँ तो इससे काम चल जाता है। किन्तु काव्य में ऐसे भेद सर्वत्र देखने को नहीं मिलते। ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब हम यह निर्णय भी नहीं कर पाते कि दो पात्रों में कौन हमारी सहानुभूति का अधिक अधिकारी है और रचयिता के लिए तो सभी पात्र एक से महत्वपूर्ण हैं। सभी में उसका कौशल व्यक्त हुआ है। ऐसी अवस्था में प्रवृत्ति और निवृत्ति का रूढ़िबद्ध विभाजन अशेष मानव जीवन का सीमा निर्धारण करना ही होगा, जिसका समर्थन आज की साहित्य-मीमांसा किसी प्रकार नहीं कर सकती।

काव्य में प्रकृति के चित्रण सम्बन्धी शुक्लजी की धारणा और ग्रियर्सन अनुयायी उनके मानववादर्शवाद के प्रति दो शब्द कह कर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। मानव-जीवन के पुराने सहचर वृक्ष, लता, पगडण्डी, पटपर, लम्बे मैदान, लहराती जलराशि, वर्षा की झड़ी, कोई पालतू या जंगली पशु, हमारी सोई हुई चेतना को जगाने में बहुत समर्थ हैं। अपेक्षाकृत नई चीजें जैसे आज की इमारतें, पार्क, मिल आदि इस कार्य में उतने ही सफल नहीं सिद्ध हो सकते। शुक्लजी का यह कथन एक स्वतन्त्र रचनाकार की हैसियत से समुचित हो सकता है, किन्तु कला की आलोचना

फिर कहेंगे कि शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाज-शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तु-न्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबन्ध-कथानक और जीवन-सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वाङ्गीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्य-धारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते। यह स्वा-भाविक ही है, क्योंकि शुक्लजी जिस युग के प्रतिनिधि है, उसे हम पार कर चुके हैं। उस युग के सारे संस्कार—शैशव कालीन आदर्शवादिता, व्यक्त रूपों का सौन्दर्य, आचारों का दो हिस्सों में विभाजन आदि—हमें शुक्लजी में मिलते हैं। वे हमारी साहित्य-समीक्षा के बालारुण हैं। किन्तु दिन अब चढ़ चुका है और नये प्रकाश तथा नई ऊष्मा का अनु-भव हिन्दी-साहित्य-समीक्षा कर रही है।

के प्रशसक, क्या विरोधी और क्या स्वयम् प्रेमचन्द जी निर्लेप विचारभूमि में सध कर (Sustained) टिक ही नहीं पाते। इसलिए हिन्दी मे इन दिनो लोग एक-एक टेक लेकर चलने लगे है। उस टेक को आदर्श के नाम से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए कोई गरीबी की टेक, कोई किसी सामयिक लोकप्रिय आन्दोलन की टेक और कोई आचार की टेक लेकर चलते हैं। परन्तु इनके होते हुए भी विचारो का दैन्य छिपता नहीं है और कभी-कभी तो वह दयनीय दशा मे दिखाई देता है। जब विचार ही नहीं हैं तब भावना की उड़ान भी थोड़ी ही होगी और वह भी अनिर्दिष्ट अवस्था मे इधर-उधर पङ्ख फड़फड़ाती फिरेगी। प्रेमचन्द जी के समीक्षको का यह कहना नितान्त अशुद्ध है कि वे ब्राह्मण-विरोधी हैं। उनमे विरोध का शुष्क विचार धारण करने की वह शक्ति ही नहीं है जिससे वे ब्राह्मण-विरोधी बन सके। श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी का यह आरोप है कि प्रेमचन्द जी स्त्री-चरित्र अकित करने मे सफल नहीं हुए। परन्तु जोशी जी अभी शाखा ही तक पहुँचे हैं। मूल तत्व यह है कि प्रेमचन्द जी का कोई स्वतन्त्र स्वानुभूत-दर्शन नहीं है। केवल सामयिकता का 'आदर्श' है। वही टेक जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। वह टेक जब सामाजिक क्षेत्र मे आती है तब भ्रान्तिवश समीक्षक समझता है कि वे ब्राह्मण-विरोध कर रहे हैं, वह जब स्त्री-पुरुष की कहानी कहती है तब उसमे जोशी जी को त्रुटि देख पडती है और इसी प्रकार कुछ-न-कुछ विक्षेप समीक्षक लोग डाल ही देते हैं। पर हम तो देखते है कि प्रेमचन्द जी की धारणाभूमि से परिचित न होकर समीक्षकगण अपनी ही विचारहीनता प्रकट कर रहे हैं। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि प्रेमचन्द जी की टेक समझ ली जाय।

प्रेमचन्द जी के मानसिक सङ्गठन मे कल्पना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। कथानक का स्थूल रङ्गरूप (technique) बनाने में जितनी स्वल्प कल्पना चाहिए, बस प्रेमचन्द जी मे उतनी ही है। कवि मे और उनमे कोसो का अन्तर है। अपने उपन्यासों में—विशेषकर 'सेवासदन' मे—आपने जो उपमाएँ देने की चेष्टा की है, जिनकी संख्या आपकी कल्पना-शक्ति को देखते हुए जरूरत से ज्यादा हो गई है, उनसे ही प्रकट हो जाता है कि यह क्षेत्र आपका नहीं है। कल्पना के अभाव के साथ प्रेमचन्द जी मे तीव्र बौद्धिक दृष्टि और उसके फल स्वरूप निर्माण होनेवाले व्यवस्थित जीवन-दर्शन का भी अभाव है। प्रेमचन्द जी किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते। अध्ययन द्वारा भी वे विचार-परिपुष्ट नहीं बन सके। उनके इस स्वभाव को समझने की चेष्टा हिन्दी जगत किस तरह करता, जब वह स्वयम् ही उसी स्वभाव का है। बिना इसको समझे समीक्षक की कलम

के प्रशसक, क्या विरोधी और क्या स्वयम् प्रेमचन्द जी निर्लेप विचारभूमि मे सध कर (Sustained) टिक ही नही पाते। इसलिए हिन्दी मे इन दिनो लोग एक-एक टेक लेकर चलने लगे हैं। उस टेक को आदर्श के नाम से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए कोई गरीबी की टेक, कोई किसी सामयिक लोकप्रिय आन्दोलन की टेक और कोई आचार की टेक लेकर चलते है। परन्तु इनके होते हुए भी विचारो का दैन्य छिपता नहीं है और कभी-कभी तो वह दयनीय दशा मे दिखाई देता है। जब विचार ही नहीं है तब भावना की उड़ान भी थोड़ी ही होगी और वह भी अनिर्दिष्ट अवस्था मे इधर-उधर पङ्ख फड़फड़ाती फिरेगी। प्रेमचन्द जी के समीक्षको का यह कहना नितान्त अशुद्ध है कि वे ब्राह्मण-विरोधी हैं। उनमे विरोध का शुष्क विचार धारण करने की वह शक्ति ही नहीं है जिससे वे ब्राह्मण-विरोधी बन सके। श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी का यह आरोप है कि प्रेमचन्द जी स्त्री-चरित्र अकित करने मे सफल नहीं हुए। परन्तु जोशी जी अभी शाखा ही तक पहुँचे है। मूल तत्व यह है कि प्रेमचन्द जी का कोई स्वतन्त्र स्वानुभूत-दर्शन नहीं है। केवल सामयिकता का 'आदर्श' है। वही टेक जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। वह टेक जब सामाजिक क्षेत्र मे आती है तब भ्रान्तिवश समीक्षक समझता है कि वे ब्राह्मण-विरोध कर रहे है, वह जब स्त्री-पुरुष की कहानी कहती है तब उसमे जोशी जी को त्रुटि देख पड़ती है और इसी प्रकार कुछ-न-कुछ विक्षेप समीक्षक लोग डाल ही देते है। पर हम तो देखते है कि प्रेमचन्द जी की धारणाभूमि से परिचित न होकर समीक्षकगण अपनी ही विचारहीनता प्रकट कर रहे है। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि प्रेमचन्द जी की टेक समझ ली जाय।

प्रेमचन्द जी के मानसिक सङ्गठन मे कल्पना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। कथानक का स्थूल स्वरूप (technique) बनाने मे जितनी स्वल्प कल्पना चाहिए, बस प्रेमचन्द जी मे उतनी ही है। कवि मे और उनमे कोसो का अन्तर है। अपने उपन्यासो मे—विशेषकर 'सेवासदन' मे—आपने जो उपमाएँ देने की चेष्टा की है, जिनकी सख्या आपकी कल्पना-शक्ति को देखते हुए जरूरत से ज़्यादा हो गई है, उनसे ही प्रकट हो जाता है कि यह क्षेत्र आपका नहीं है। कल्पना के अभाव के साथ प्रेमचन्द जी मे तीव्र बौद्धिक दृष्टि और उसके फल स्वरूप निर्माण होनेवाले व्यवस्थित जीवन-दर्शन का भी अभाव है। प्रेमचन्द जी किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते। अध्ययन द्वारा भी वे विचार-परिपुष्ट नहीं बन सके। उनके इस स्वभाव को समझने की चेष्टा हिन्दी जगत किस तरह करता, जब वह स्वयम् ही उसी स्वभाव का है। बिना इसको समझे समीक्षक की कलम

अथवा जो सम्पादकीय लेख छपते रहते हैं, प्रेमचन्द जी की कहानियाँ उन्हीं का दूसरा रूप है। यह दूसरा रूप प्रदान करने मे—कहानी की टेकनीक खड़ी करने मे—प्रेमचन्द जी को कमाल हासिल है, यह मुक्तकण्ठ से प्रत्येक समीक्षक स्वीकार करेगा। हमारा तो अनुमान है कि इतने सीमित क्षेत्र मे इतना अधिक साहित्य-निर्माण करना प्रेमचन्द जी के कलाकौशल का निश्चित प्रमाण है और हम तो यह नहीं जानते कि संसार के किस दूसरे उपन्यासकार ने इतनी थोड़ी सामग्री से इतना विशाल साहित्य सृजन किया है। सामग्री थोड़ी नहीं तो और क्या है ? सामयिक वातावरण कितना घिरा हुआ है, देश में सम्प्रति एक आँधी-सी चल रही है। सामूहिक आन्दोलन आँधी नहीं तो और क्या है ? जो एक अर्द्ध जाग्रत, अर्द्ध निद्रित सामूहिक चेतना कभी धूम्रवत्, कभी शिखा-सी दिखाई दे जाती है, यह उस आँधी की ही प्रज्वलित की हुई है। कुछ परम्पराएँ पेड़ों-सी उखड़ी जाती, कुछ पत्तो-सी उड़ी जाती है। सागर मे भी हिल्लोल हो उठा है जिससे कुछ बहुमूल्य मणिरत्न भी तट पर आ अटके है। तथापि है यह आँधी ही, इसलिए वे रत्नादिक न जाने किस दूसरे झोंके में विलीन हो जायँ। यह ऐसा अवसर आया हुआ है कि सामयिक विचार-प्रवाह धुँधला, अनिर्दिष्ट और स्थूल बन रहा है। कुछ थोड़ी-सी ज्योतिष्मती उपयोगिनी भावनाएँ जाग्रत हुई है जिन्हें दीवाली के रुपयों की भाँति 'जगाने' मे ही सामयिक साहित्य की अधिकांश शक्ति लग रही है। हमारे पत्रों मे नवीन उद्भावना के लिए स्थान नहीं है, समाज मे भी सम्प्रति व्यक्ति की शतशः सहस्रशः निगूढ वृत्तियों के विकास का अवसर नहीं है। जो थोड़ी-सी आग बन पाई है वह बुझ न जाय यही दुश्चिन्ता सर्वोपरि हमारे मस्तिष्क मे वास करती है। ऐसी परिस्थिति मे यदि हमारा अधिकांश साहित्य छिछला और अल्पप्राण है तो इसमे कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। प्रेमचन्दजी ने पिछले 'जागरण' मे जो लिखा है कि साहित्य का सम्बन्ध बुद्धि की अपेक्षा भावों से अधिक है, उसका अर्थ यही है कि स्त्रियों के अधिकार, यथायोग्य विवाह, अछूत, किसान, सेवासस्था, सामान्य पारिवारिक जीवन आदि से सम्बन्धित सौ-पचास सामूहिक भावो को उद्दीप्त करते रहिए और तर्कवितर्क मत करिए। किन्तु प्रेमचन्दजी को यह विचार करने का अवसर ही नहीं मिला है कि आज जो सौ-पचास भाव समाज के सतह पर आ गये हैं वे भी बुद्धिमान व्यक्तियों की बुद्धिजन्य क्रिया के ही फल हैं। क्या कहानी-लेखक उन्हीं सतह पर आये हुए सौ-पचास भावो को लेकर बैठा रहे ? समाज के अन्तरङ्ग जीवन मे प्रवेश करने, उसका रहस्य जानने का प्रयत्न न करे ? क्या वह इतने ही इनेगिने भावों के बीच चक्कर काटा करे, अपने बुद्धि-विवेक से नई भूमि न तैयार करे ? क्या आँधी से ऊपर उठकर स्वच्छ वातावरण में वह

अथवा जो सम्पादकीय लेख छपते रहते हैं, प्रेमचन्द जी की कहानियाँ उन्हीं का दूसरा रूप हैं। यह दूसरा रूप प्रदान करने में—कहानी की टेकनीक खड़ी करने में—प्रेमचन्द जी को कमाल हासिल है, यह मुक्तकण्ठ से प्रत्येक समीक्षक स्वीकार करेगा। हमारा तो अनुमान है कि इतने सीमित क्षेत्र में इतना अधिक साहित्य-निर्माण करना प्रेमचन्द जी के कलाकौशल का निश्चित प्रमाण है और हम तो यह नहीं जानते कि संसार के किस दूसरे उपन्यासकार ने इतनी थोड़ी सामग्री से इतना विशाल साहित्य सृजन किया है। सामग्री थोड़ी नहीं तो और क्या है? सामयिक वातावरण कितना घिरा हुआ है. देश में सम्प्रति एक आँधी-सी चल रही है। सामूहिक आन्दोलन आँधी नहीं तो और क्या है? जो एक अर्द्धजाग्रत, अर्द्धनिद्रित सामूहिक चेतना कभी धूम्रवत्, कभी शिखा-सी दिखाई दे जाती है, यह उस आँधी की ही प्रज्वलित की हुई है। कुछ परम्पराएँ पेड़ों-सी उखड़ी जातीं, कुछ पत्तों-सी उड़ी जाती हैं। सागर में भी हिल्लोल हो उठा है जिससे कुछ बहुमूल्य मणिरत्न भी तट पर आ अटके हैं। तथापि है यह आँधी ही, इसलिए वे रत्नादिक न जाने किस दूसरे झोंके में विलीन हो जायँ। यह ऐसा अवसर आया हुआ है कि सामयिक विचार-प्रवाह धुँधला, अनिर्दिष्ट और स्थूल बन रहा है। कुछ थोड़ी-सी ज्योतिष्मती उपयोगिनी भावनाएँ जाग्रत हुई हैं जिन्हें दीवाली के रुपयों की भाँति 'जगाने' में ही सामयिक साहित्य की अधिकांश शक्ति लग रही है। हमारे पत्रों में नवीन उद्भावना के लिए स्थान नहीं है, समाज में भी सम्प्रति व्यक्ति की शतशः सहस्रशः निगूढ़ वृत्तियों के विकास का अवसर नहीं है। जो थोड़ी-सी आग बन पाई है वह बुझ न जाय यही दुश्चिन्ता सर्वोपरि हमारे मस्तिष्क में वास करती है। ऐसी परिस्थिति में यदि हमारा अधिकांश साहित्य छिछला और अल्पप्राण है तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। प्रेमचन्दजी ने पिछले 'जागरण' में जो लिखा है कि साहित्य का सम्बन्ध बुद्धि की अपेक्षा भावों से अधिक है, उसका अर्थ यही है कि स्त्रियों के अधिकार, यथायोग्य विवाह, अछूत, किसान, सेवासदन, सामान्य पारिवारिक जीवन आदि से सम्बन्धित सौ-पचास सामूहिक भावों को उद्दीप्त करते रहिए और तर्कवितर्क मत करिए। किन्तु प्रेमचन्दजी को यह विचार करने का अवसर ही नहीं मिला है कि आज जो सौ-पचास भाव समाज में सतह पर आ गये हैं वे भी बुद्धिमान व्यक्तियों की बुद्धिजन्य क्रिया के ही फल हैं। क्या कहानी-लेखक इन्हीं सतह पर आये हुए सौ-पचास भावों को लेकर बैठा रहे? समाज के अन्तरङ्ग जीवन में प्रवेश करने, उसका रहस्य जानने का प्रयत्न न करे? क्या वह इतने ही इनेगिने भावों के बीच चक्कर काटा करे, अपने बुद्धि-विवेक से नई भूमि न तैयार करे? क्या आँधी से ऊपर उठकर स्वच्छ वातावरण में वह

जी केवल भावों मे अपना मतलब बतलाते है और बहुत अंशों मे रखते भी है। दूसरे शब्दों मे प्रेमचन्द जी मनुष्य की विविधता उसके व्यक्तित्व के असख्य यथार्थ रूपो से प्रीति नहीं रखते, केवल भावों को प्रोत्साहित करते है। अतएव प्रेमचन्द जी के उपन्यास-पात्रों मे व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की अपेक्षा कथानक का प्रवाह अधिक है, वर्णन द्वारा वे प्रसङ्गों को रसमय बनाते हैं चित्रण द्वारा कम। भावों की आँधी में वे पाठकों को उड़ाना चाहते है, पर योगस्थ पाठक यह देखते है कि उनके पात्र ही आँधी मे उड रहे है। यह प्रेमचन्द जी की भावुकता का दृश्य है। बहुत कम रचनाओं में प्रेमचन्द जी स्थिर बुद्धि होकर पात्रों, घटनाओं और भावों के बीच निसर्ग सिद्ध साम्य (Harmony) स्थापित कर सके है। बहुत कम कहानियाँ स्वतःप्रसूत, स्वतःविकसित और स्वतः समाप्त हो सकी है। जैसे फूल आप से आप खिलता और आप ही मुरझा कर गिर पड़ता है। पुष्प के विकास के समय जैसे उसके सब दल खुल पड़ते है, जैसे उसके अङ्ग-अङ्ग सब समान रूपमाधुरी से कमनीय हो उठते हैं, उस रूप मे साहित्य के दर्शन प्रेमचन्द जी ने कम ही किये है, क्योंकि वे दर्शन का साहित्य से सम्बन्ध ही नहीं मानते। हमारे शास्त्रों मे मुक्ति का अधिकारी व्यक्ति ही माना गया है, समूह नहीं। भावों का विकास व्यक्ति का ही आश्रय लेकर होता है, अतः यहाँ भी व्यक्ति ही प्रमुख है। किन्तु प्रेमचन्द जी साहित्य के लिए भाव को ही प्रमुख मानने और उसे रसमय बनाने के प्रयास मे व्यक्ति को भावों का भारवाही भी बना देते है। चरित्र का निर्माण, सूक्ष्म मनोगतियों की पहचान और कला का सौष्ठव प्रेमचन्द जी मे उच्चकोटि का नहीं हो पाया इसका कारण वही 'टेक' या स्थूल आदर्शवादिता है।

ख्वाजा हसन निजामी साहब ने दिल्ली की एक सभा मे प्रेमचन्द जी का सत्कार करते हुए कहा था कि जिस ज़माने में हिन्दू और मुसलमान गुमराह होकर लड़-मर रहे थे और हिन्दू-मुस्लिम नेता वैमनस्य की आग भड़का रहे थे, उस ज़माने मे प्रेमचन्द जी दर्दभरी कहानियाँ लिख कर राष्ट्रीय प्रीति का सदेश सुना रहे थे। परन्तु ख्वाजा साहब ने प्रेमचन्द जी का 'कायाकल्प' उपन्यास नहीं पढ़ा होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन के शिथिल पड़ने पर सन् २४-२५-२६ मे प्रेमचन्द जी हिन्दू-सघटन के नेता का रूप भी धारण कर चुके है। उस समय की वही रवैया थी। प्रेमचन्द जी भी समय के साथ थे। किसी प्रकार की कृत्रिमता लेकर नहीं, पूरी ईमानदारी के साथ उन्होंने समय का साथ दिया। यह ईमानदारी प्रेमचन्द जी की बहुत बड़ी विशेषता है और यही उनके गौरव का मुख्य हेतु है। वे भीतर बाहर एक है। उनकी रचना-धारा उनकी मनोधारा के सर्वत्र समानान्तर बनी

में आशा और उत्साह का सन्देश मिलता है और हिन्दी राष्ट्र को भी पर्याप्त मात्रा में मिला है। प्रेमचन्दजी की चेतना इन्हीं दोनों के सम्मिलन से उद्दीप्त हुई है और वही प्रकाश उनकी रचनाओं में प्रसार पा रहा है। राष्ट्रीय शक्ति का इतना बड़ा उपासक हमारे साहित्य में कोई दूसरा नहीं है।

शक्ति के साथ यदि संयम हो तो उसकी उपयोगिता स्पष्ट ही है। प्रेमचन्दजी की रचनाएँ विशेष रूप से संयमित हैं। 'लिबर्टी' ने यह ठीक ही लिखा है कि प्रेमचन्द जी में अतिवाद नहीं है, वे मध्यमार्गी साहित्यकार हैं। यह उनके संयम का ही परिचय है। वे तीव्र व्यंग्य न करके मीठी चुटकियों का प्रयोग करते हैं। अपनी धारणाओं पर उनकी आस्था बड़े ही प्रसन्न रूप में देख पड़ती है, नहीं तो वे मीठी चुटकियाँ न ले पाते। यह प्रेमचन्दजी की प्रशंसनीय वृत्ति है कि वे जिस विषय अथवा भावना को अपनाये हुए हैं और जिसके सम्बन्ध में उनके मन में कोई तर्क-वितर्क नहीं है उसे भी वे अधिकतर तीव्र बना कर, कटु बनाकर प्रभाव नहीं डालते। इसे उनकी उदारता की सूचना समझनी चाहिए। इसी उदारता के साथ यदि प्रेमचन्दजी में एक समृद्ध बौद्धिक एकतानता या एक सूत्रता होती और वे कला के माध्यम से (केवल भावात्मकता या प्रचार के माध्यम से नहीं) उस एकसूत्रता का परिचय हमें करा सकते तो हमारा साहित्य प्रेमचन्द को पाकर कृत-कृत्य हो जाता। यहाँ हम उनके उन समीक्षकों का ध्यान आकर्षित करते हैं जो उन्हें ब्राह्मण-द्रोही समझने की मिथ्या धारणा रखते हैं।

भावों का उद्रेक करने में प्रेमचन्दजी ने अवश्य मनुष्यता की ओर से दृष्टि खींची है। यदि इसकी त्रुटिपूर्ति किसी प्रकार हो सकती है तो प्रेमचन्दजी ने भावों को सुचारु, सद्भावनाप्रद बना कर की है। प्रेमचन्दजी ने एक अनिर्दिष्ट राष्ट्रीयता का निर्देश किये बिना ही उसका पल्ला पकड़ा है, यदि इसकी त्रुटिपूर्ति किसी प्रकार हो सकती है तो प्रेमचन्दजी ने राष्ट्रीयता में उदारता की अच्छी मात्रा रहने दी है और उसमें आशा की कान्ति झलका दी है। यदि कल्पना की उच्च परिधि तक प्रेमचन्द-जी की पहुँच नहीं है, तो उनकी ईमानदारी के सम्बन्ध में कोई दो बातें नहीं कही जा सकतीं। साहित्य के लिए बहुतेरी साधारण बातों की अपेक्षा इस ईमानदारी का महत्त्व अधिक है। प्रेमचन्दजी के साहित्य को उनके व्यक्तित्व की पूरी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त हुए हैं। इस युग में यह भी एक बड़ी बात है। कथानक, चरित्र, विचारसूत्र और कला की निर्मिति में प्रेमचन्दजी प्रथम श्रेणी के यूरोपीय औपन्यासिकों की ऊँचाई

मे आशा और उत्साह का सन्देश मिलता है और हिन्दी राष्ट्र को भी पर्याप्त मात्रा मे मिला है। प्रेमचन्दजी की चेतना इन्हीं दोनो के सम्मिलन से उद्दीप्त हुई है और वही प्रकाश उनकी रचनाओ मे प्रसार पा रहा है। राष्ट्रीय शक्ति का इतना बडा उपासक हमारे साहित्य मे कोई दूसरा नहीं है।

शक्ति के साथ यदि सयम हो तो उसकी उपयोगिता स्पष्ट ही है। प्रेमचन्दजी की रचनाएँ विशेष रूप से सयमित हैं। 'लिबर्टी' ने यह ठीक ही लिखा है कि प्रेमचन्द जी में अतिवाद नहीं है, वे मध्यमार्गी साहित्यकार है। यह उनके सयम का ही परिचय है। वे तीव्र व्यंग्य न करके मीठी चुटकियो का प्रयोग करते है। अपनी धारणाओ पर उनकी आस्था बडे ही प्रसन्न रूप मे देख पड़ती है, नहीं तो वे मीठी चुटकियाँ न ले पाते। यह प्रेमचन्दजी की प्रशसनीय वृत्ति है कि वे जिस विषय अथवा भावना को अपनाये हुए है और जिसके सम्बन्ध में उनके मन मे कोई तर्क-वितर्क नही है उसे भी वे अधिकतर तीव्र बना कर, कटु बनाकर प्रभाव नहीं डालते। इसे उनकी उदारता की सूचना समझनी चाहिए। इसी उदारता के साथ यदि प्रेमचन्दजी मे एक समृद्ध बौद्धिक एकतानता या एक सूत्रता होती और वे कला के माध्यम से (केवल भावात्मकता या प्रचार के माध्यम से नहीं) उस एकसूत्रता का परिचय हमे करा सकते तो हमारा साहित्य प्रेमचन्द को पाकर कृत-कृत्य हो जाता। यहाँ हम उनके उन समीक्षको का ध्यान आकर्षित करते है जो उन्हे ब्राह्मण-द्रोही समझने की मिथ्या धारणा रखते हैं।

भावो का उद्रेक करने में प्रेमचन्दजी ने अवश्य मनुष्यता की ओर से दृष्टि खींची है। यदि इसकी त्रुटिपूर्ति किसी प्रकार हो सकती है तो प्रेमचन्दजी ने भावो को सुचारु, सद्भावनाप्रद बना कर की है। प्रेमचन्दजी ने एक अनिर्दिष्ट राष्ट्रीयता का निर्देश किये बिना ही उसका पल्ला पकड़ा है, यदि इसकी त्रुटिपूर्ति किसी प्रकार हो सकती है तो प्रेमचन्दजी ने राष्ट्रीयता मे उदारता की अच्छी मात्रा रहने दी है और उसमें आशा की कान्ति झलका दी है। यदि कल्पना की उच्च परिधि तक प्रेमचन्द-जी की पहुँच नहीं है, तो उनकी ईमानदारी के सम्बन्ध में कोई दो बातें नहीं कही जा सकतीं। साहित्य के लिए बहुतसी साधारण बातो की अपेक्षा इस ईमानदारी का महत्व अधिक है। प्रेमचन्दजी के साहित्य को उनके व्यक्तित्व की पूरी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त हुए हैं। इस युग मे यह भी एक बड़ी बात है। कथानक, चरित्र, विचारसूत्र और कला की निर्मिति मे प्रेमचन्दजी प्रथम श्रेणी के यूरोपीय औपन्यासिको की ऊँचाई

नहीं हुआ, क्योंकि उसमें भी हमे प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही देख पड़ा। उपन्यास लिखने का पुराना तरीका यह था कि एक पक्ष को परम धार्मिक वीर और वरेण्य बनाकर दूसरे को हद दर्जे तक उसके विपरीत बना दिया जाय और इन्हीं दोनो विरोधी दलो के सङ्घर्ष से कथा का विकास होता रहे। यह बहुत पुराना ढर्रा था, जिसमे सत्य की ओर से आँखे मूँद कर उपन्यास का ढाचा खड़ा किया जाता था। प्रेमचन्दजी ने 'आत्मकथाक' की स्तुति करते हुए 'भारत' की जो निन्दा की है, उसमें हमे उपन्यास लिखने का उपर्युक्त पुराना ढर्रा ही देख पड़ा, जिसे आधुनिक विकसित साहित्य एक जमाने से छोड़ चुका है। 'जागरण' के अनुद्वेगशील सम्पादक को प्रेमचन्दजी के लेख से आश्चर्य हुआ और विरोध मे टिप्पणियाँ जड़नी पड़ीं। पर हम तो उनके इस लेख मे उनका वही रूप देखते हैं, जो उनके साहित्य मे देख चुके हैं।

साहित्य मे हम शुद्ध साहित्यिक संस्कृति चाहते हैं, लाग-लपेट कुछ भी नहीं। चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो, पुस्तक हो अथवा संस्था हो। हम उसकी परख अपनी इसी मूल भावना की कसौटी पर करते हैं। यदि हम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विपक्ष मे हैं, तो इसलिए कि सम्मेलन वास्तव मे साहित्य के प्रति उदासीन बना हुआ है। यदि हम पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी अथवा श्रीयुत भवानीदयाल सन्यासी जी के किसी लेख अथवा साहित्यिक नीति का विरोध करते हैं, तो इसलिए कि वे सज्जन शुद्ध साहित्य को साहित्य-बाह्य वस्तुओं का भारवाही बनाते हैं, जिसे देखकर हमें ग्लानि होती है। जब हम पत्र-पत्रिकाओं मे दो अक्षर लिख लेनेवालों की चित्र-शुद्धि पर आक्षेप करते हैं, तब समझते हैं कि हिन्दी मे अब तक बहुत थोड़े साहित्यकार ऐसे हैं, जिनके चित्र छपने चाहिए। और, जब हम 'आत्मकथाक' का विरोध करते हैं, तब अपने साहित्य मे बढ़ते हुए आत्म-विज्ञापन के कलुष का ध्यान करते हैं और यह निर्विकल्प रूप से जानते हैं कि ऐसे व्यक्ति, जो आत्मकथा लिखने के योग्य हों, हिन्दी-संसार मे अधिक नहीं, उंगलियों पर ही गिने जा सकते हैं। यदि ये सब प्रेमचन्दजी के लिखे अनुसार उन्हें चौंकानेवाली बातें हैं, तो हम उनके प्रति अपना संमान प्रकट करते हुए भी चौंकानेवाली बातें करना अपना धर्म मानते हैं। हिन्दी का साहित्यिक जमघट अभी शुद्ध साहित्यिक वातावरण से कोसों दूर है, इसलिए इस तरह की बातें प्रेमचन्दजी को ही नहीं, औरों को भी अभी कुछ दिन चौंकाती रहेंगी और इसका हम बुरा भी नहीं मानते।

नहीं हुआ, क्योंकि उसमे भी हमे प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही देख पड़ा। उपन्यास लिखने का पुराना तरीका यह था कि एक पक्ष को परम धार्मिक वीर और वरेण्य बनाकर दूसरे को हद दर्जे तक उसके विपरीत बना दिया जाय और इन्हीं दोनो विरोधी दलो के सङ्घर्ष से कथा का विकास होता रहे। यह बहुत पुराना ढर्रा था, जिसमे सत्य की ओर से आँखे मूँद कर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया जाता था। प्रेमचन्दजी ने 'आत्मकथाक' की स्तुति करते हुए 'भारत' की जो निन्दा की है, उसमे हमे उपन्यास लिखने का उपर्युक्त पुराना ढर्रा ही देख पड़ा, जिसे आधुनिक विकसित साहित्य एक ज़माने से छोड़ चुका है। 'जागरण' के अनुद्वेगशील सम्पादक को प्रेमचन्दजी के लेख से आश्चर्य हुआ और विरोध मे टिप्पणियाँ जड़नी पड़ीं। पर हम तो उनके इस लेख मे उनका वही रूप देखते है, जो उनके साहित्य मे देख चुके हैं।

साहित्य मे हम शुद्ध साहित्यिक सस्कृति चाहते हैं, लाग-लपेट कुछ भी नहीं। चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो, पुस्तक हो अथवा सस्था हो। हम उसकी परख अपनी इसी मूल भावना की कसौटी पर करते हैं। यदि हम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विपक्ष मे हैं, तो इसलिए कि सम्मेलन वास्तव मैं साहित्य के प्रति उदासीन बना हुआ है। यदि हम पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी अथवा श्रीयुत भवानीदयाल सन्यासी जी के किसी लेख अथवा साहित्यिक नीति का विरोध करते है, तो इसलिए कि वे सज्जन शुद्ध साहित्य को साहित्य-बाह्य वस्तुओ का भारवाही बनाते हैं, जिसे देखकर हमे ग्लानि होती है। जब हम पत्र-पत्रिकाओं मे दो अक्षर लिख लेनेवालो की चित्र वृद्धि पर आक्षेप करते है, तब समझते है कि हिन्दी मे अब तक बहुत थोड़े साहित्य-कार ऐसे है, जिनके चित्र छपने चाहिए। और, जब हम 'आत्मकथाक' का विरोध करते है, तब अपने साहित्य मे बढ़ते हुए आत्म-विज्ञापन के कलुष का ध्यान करते हैं और यह निर्विकल्प रूप से जानते है कि ऐसे व्यक्ति, जो आत्मकथा लिखने मे योग्य हो, हिन्दी-ससार मे अधिक नहीं, उगलियो पर ही गिने जा सकते है यदि ये सब प्रेमचन्दजी के लिखे अनुसार उन्हे चौंकानेवाली बाते है, तो हम उनके प्रति अपना संमान प्रकट करते हुए भी चौंकानेवाली बाते कहना अपना धर्म मानते हैं। हिन्दी का साहित्यिक जमघट अभी शुद्ध साहित्यिक वातावरण से कोसो दूर है; इसलिए इस तरह की बाते प्रेमचन्दजी को ही नहीं, औरो को भी अभी कुछ दिन. चौंकाती रहेंगी और इसका हम बुरा भी नहीं मानते।

नहीं हुआ, क्योंकि उसमे भी हमे प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही दे
पड़ा। उपन्यास लिखने का पुराना तरीका यह था कि एक पक्ष को परम धार्मिक व
और वरेण्य बनाकर दूसरे को हद दर्जे तक उसके विपरीत बना दिया जाय और इन
दोनों विरोधी दलों के सङ्घर्ष से कथा का विकास होता रहे। यह बहुत पुराना ढर्रा थ
जिसमे सत्य की ओर से आँखे मूँद कर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया जाता था
प्रेमचन्दजी ने 'आत्मकथाक' की स्तुति करते हुए 'भारत' की जो निन्दा की है, उस
हमे उपन्यास लिखने का उपर्युक्त पुराना ढर्रा ही देख पड़ा, जिसे आधुनिक विकसि
साहित्य एक जमाने से छोड़ चुका है। 'जागरण' के अनुद्वेगशील सम्पादक क
प्रेमचन्दजी के लेख से आश्चर्य हुआ और विरोध मे टिप्पणियाँ जड़नी पड़ीं। प
हम तो उनके इस लेख मे उनका वही रूप देखते है, जो उनके साहित्य मे देख
चुके है।

साहित्य में हम शुद्ध साहित्यिक संस्कृति चाहते हैं, लाग-लपेट कुछ भी नहीं
चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो, पुस्तक हो अथवा संस्था हो। हम उसकी परख
अपनी इसी मूल भावना की कसौटी पर करते है। यदि हम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के
विपक्ष मे है, तो इसलिए कि सम्मेलन वास्तव मे साहित्य के प्रति उदासीन बना हुआ
है। यदि हम पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी अथवा श्रीयुत भवानीदयाल
सन्यासी जी के किसी लेख अथवा साहित्यिक नीति का विरोध करते है, तो इसलिए
कि वे सज्जन शुद्ध साहित्य को साहित्य-बाह्य वस्तुओं का भारवाही बनाते हैं, जिसे
देखकर हमें ग्लानि होती है। जब हम पत्र-पत्रिकाओं मे दो अक्षर लिख लेनेवालों की
चित्र वृद्धि पर आक्षेप करते है, तब समझते है कि हिन्दी मे अब तक बहुत थोड़े साहित्य-
कार ऐसे हैं, जिनके चित्र छपने चाहिए। और, जब हम 'आत्मकथाक' का विरोध
करते है, तब अपने साहित्य मे बढ़ते हुए आत्म विज्ञापन के कलुष का ध्यान करते
है और यह निर्विकल्प रूप से जानते है कि ऐसे व्यक्ति, जो आत्मकथा लिखने
में योग्य हों, हिन्दी-संसार मे अधिक नहीं, उंगलियों पर ही गिने जा सकते हैं
यदि ये सब प्रेमचन्दजी के लिखे अनुसार उन्हें चौंकानेवाली बाते हैं, तो हम उनके
प्रति अपना संमान प्रकट करते हुए भी चौंकानेवाली बाते कहना अपना धर्म
मानते हैं। हिन्दी का साहित्यिक जमघट अभी शुद्ध साहित्यिक वातावरण से कोसों दूर
है; इसलिए इस तरह की बाते प्रेमचन्दजी को ही नहीं, औरों को भी अभी कुछ दिन
चौंकाती रहेंगी और इसका हम बुरा भी नहीं मानते।

नहीं हुआ, क्योंकि उसमें भी हमें प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही देख पड़ा। उपन्यास लिखने का पुराना तरीका यह था कि एक पक्ष को परम धार्मिक वीर और वरेण्य बनाकर दूसरे को हद दर्जे तक उसके विपरीत बना दिया जाय और इन्हीं दोनों विरोधी दलों के सङ्घर्ष से कथा का विकास होता रहे। यह बहुत पुराना ढर्रा था, जिसमें सत्य की ओर से आँखें मूँद कर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया जाता था। प्रेमचन्दजी ने 'आत्मकथाक' की स्तुति करते हुए 'भारत' की जो निन्दा की है, उसमें हमें उपन्यास लिखने का उपर्युक्त पुराना ढर्रा ही देख पड़ा, जिसे आधुनिक विकसित साहित्य एक जमाने से छोड़ चुका है। 'जागरण' के अनुद्वेगशील सम्पादक को प्रेमचन्दजी के लेख से आश्चर्य हुआ और विरोध में टिप्पणियाँ जड़नी पड़ीं। पर हम तो उनके इस लेख में उनका वही रूप देखते हैं जो उनके साहित्य में देख चुके हैं।

साहित्य में हम शुद्ध साहित्यिक संस्कृति चाहते हैं, लाग-लपेट कुछ भी नहीं। चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो, पुस्तक हो अथवा संस्था हो। हम उसकी परख अपनी इसी मूल भावना की कसौटी पर करते हैं। यदि हम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विपक्ष में हैं, तो इसलिए कि सम्मेलन वास्तव में साहित्य के प्रति उदासीन बना हुआ है। यदि हम पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी अथवा श्रीयुत भवानीदयाल सन्यासी जी के किसी लेख अथवा साहित्यिक नीति का विरोध करते हैं, तो इसलिए कि वे सज्जन शुद्ध साहित्य को साहित्य-बाह्य वस्तुओं का भारवाही बनाते हैं, जिसे देखकर हमें ग्लानि होती है। जब हम पत्र-पत्रिकाओं में दो अक्षर लिख लेनेवालों की चित्र वृद्धि पर आक्षेप करते हैं, तब समझते हैं कि हिन्दी में अब तक बहुत थोड़े साहित्यकार ऐसे हैं, जिनके चित्र छपने चाहिए। और, जब हम 'आत्मकथाक' का विरोध करते हैं, तब अपने साहित्य में बढ़ते हुए आत्म-विज्ञापन के कलुष का ध्यान करते हैं और यह निर्विकल्प रूप से जानते हैं कि ऐसे व्यक्ति, जो आत्मकथा लिखने के योग्य हों, हिन्दी-संसार में अधिक नहीं, उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं। यदि ये सब प्रेमचन्दजी के लिखे अनुसार उन्हें चौंकानेवाली बातें हैं, तो हम उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट करते हुए भी चौंकानेवाली बातें कहना अपना धर्म मानते हैं। हिन्दी का साहित्यिक जमघट अभी शुद्ध साहित्यिक वातावरण से कोसों दूर है, इसलिए इस तरह की बातें प्रेमचन्दजी को ही नहीं, औरों को भी, अभी कुछ दिन, चौंकाती रहेंगी और इसका हम बुरा भी नहीं मानते।

तो प्रेमचन्दजी को समझने का मौका है कि मैंने कैसे समझा कि ऐसे-वैसे नत्थू-खैरे लोग उसका कलेवर भरेंगे।

जब मेरे पास उक्त पत्र आया था, तब मैंने मित्र-भाव से और प्राइवेट तरीके से 'हंस'-कार्यालय को लिखा था कि मेरी सम्मति नहीं है कि आत्मकथांक जैसा अङ्क इस समय निकले और अङ्क के निमित्त अपनी गाथा गाने की असमर्थता के लिए मैंने क्षमा भी मांगी थी। परन्तु जब 'हंस' की ओर से यह लिख आया कि आत्मकथांक तो निकलेगा ही, तब मैंने उपर्युक्त टिप्पणी लिखी थी, जिसपर बिगड़ कर प्रेमचन्दजी लिखते हैं कि 'हंस' को मेरी सम्मति की जरूरत नहीं है! प्रेमचन्दजी यदि साहित्यिक शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकते, तो उन्हें कम-से-कम अपने प्रबन्धकों और कर्मचारियों से यह दरियाफ्त कर लेना चाहिए कि किस प्रकार का पत्र-व्यवहार वे लोग कर चुके हैं। ऐसा न करने से उनकी असहिष्णुता जो असत्य और असभ्य रूप धारण करती है, उससे दूसरों को नहीं, उनको और उनके पत्र को ही क्षति उठानी पड़ सकती है।

प्रेमचन्दजी का उत्तर

वाजपेयी जी फरमाते हैं—

"प्रेमचन्दजी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेंडा-वृत्ति के कारण काफी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े-से-बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है··· ··प्रेमचन्दजी के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष—जो उनकी साहित्य-कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है—यही प्रोपेगेंडा है।

इसका क्या जवाब दिया जा सकता है। सभी लेखक कोई-न-कोई प्रोपेगेंडा करते हैं—सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेण्डा न हो, तो संसार में साहित्य की ज़रूरत न रहे। जो प्रोपेगेण्डा नहीं कर सकता, वह विचार-शून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगेण्डा को गर्व से स्वीकार करता हूँ। मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेण्डा के आक्षेप से है जो मान, यश, कीर्ति और धन मोह के वश किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य-सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो, जो एक प्लेटफार्म को सूली पर तख्ता समझता हो, उसे अपना ढिंढोरा पीटने वाला कहना न्याय नहीं है। यों तो यहां किसी आर्डिनेन्स का भय नहीं; जो आक्षेप कोई करना चाहे कर सकता है। वाजपेयीजी ने; 'मनोविज्ञान के विद्यार्थी की हैसियत से' मेरे उन लेख में मेरी प्रोपेगेण्डा-वृत्ति देखकर संतोषलाभ किया, यह मेरे लिए भी आनन्द की बात है।

ना प्रेमचन्दजी को समझने का मौक़ा है कि मैंने कैसे समझा कि ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे लोग उसका कलेवर भरेंगे।

जब मेरे पास उक्त पत्र आया था, तब मैंने मित्र-भाव से और प्राइवेट तरीके से 'हंस'-कार्यालय को लिखा था कि मेरी सम्मति नहीं है कि आत्मकथाक जैसा अङ्क इस समय निकले और अङ्क के निमित्त अपनी गाथा गाने की अक्षमता के लिए मैंने क्षमा भी माँगी थी। परन्तु जब 'हंस' की ओर से यह लिख आया कि आत्मकथाक तो निकलेगा ही, तब मैंने उपर्युक्त टिप्पणी लिखी थी, जिसपर बिगड़ कर प्रेमचन्दजी लिखते हैं कि 'हंस' को मेरी सम्मति की ज़रूरत नहीं है! प्रेमचन्दजी यदि साहित्यिक शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकते, तो उन्हें कम-से कम अपने प्रबन्धकों और कर्मचारियों से यह दरियाफ्त कर लेना चाहिए कि किस प्रकार का पत्र व्यवहार वे लोग कर चुके हैं। ऐसा न करने से उनकी असहिष्णुता जो असत्य और असभ्य रूप धारण करती है, उससे दूसरों को नहीं, उनको और उनके पत्र को ही क्षति उठानी पड़ सकती है।

प्रेमचन्दजी का उत्तर

वाजपेयी जी फरमाते हैं—

"प्रेमचन्दजी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेंडा-वृत्ति के कारण काफ़ी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े से-बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है··· "प्रेमचन्दजी के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष—जो उनकी साहित्य-कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है—यही प्रोपेगेंडा है।"

इसका क्या जवाब दिया जा सकता है। सभी लेखक कोई-न-कोई प्रोपेगंडा करते हैं—सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेण्डा न हो, तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपेगेण्डा नहीं कर सकता, वह विचार-शून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगेण्डा को गर्व से स्वीकार करता हूँ। मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेण्डा के आक्षेप से है, जो मान, यश, कीर्ति और धन-मान के लिए किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य-सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो, जो एक प्लेटफार्म को सूली का तख्ता समझता हो, उसे अपना ढिंढोरा पीटने वाला कहना न्याय नहीं है। यों तो यहाँ किसी आर्डिनेंस का भय नहीं; जो आक्षेप कोई करना चाहे कर सकता है। वाजपेयीजी ने, 'मनोविज्ञान के विद्यार्थी की हैसियत से' मेरे उस लेख में मेरी प्रोपेगेण्डावृत्ति देखकर सतोषलाभ किया, यह मेरे लिए भी आनन्द की बात है।

कितनी शुद्ध साहित्य-सुधा-वृष्टि है! अहंकार का एक महान कुटिल रूप है, अल्प-मत की गौरवमयी श्रेणी मे रहना, चाहे उसकी संख्या एक ही तक परिमित हो। सभी बड़े-बड़े विचार-प्रवर्तकों ने अपनी अकेली आवाज से ससार पर विजय पाई है और यदि हमारे योग्य 'भारत'-सम्पादक उस गौरव के उम्मीदवार है, तो हमे शिकायत की कोई गुन्जाइश नही। हम सभी चाहते है कि कोई ऐसी बात कहें, जो कोई दूसरा न कह सके; कोई ऐसा काम कर दिखावे, जो दूसरा न कर सके। कभी यह इच्छा सच्ची होती है, कभी महत्वाकांक्षा से प्रेरित। हम इसे वाजपेयीजी के बलवान व्यक्तित्व और उज्ज्वल प्रतिभा का प्रमाण समझते है। उनकी नजर मे हिन्दी का कोई लेखक नही जॅचता, मैं इन बातो से नही चौकता। आप इससे भी कोई बड़ी अनोखी नई अभूत-पूर्व बात कहिए, मे जरा भी न चौकूँगा, मिनकूँगा ही नही। इतने महान् आविष्कार की उपेक्षा कौन कर सकता है, हिन्दी मे ऐसा कोई लेखक नही, जिसकी आत्मकथा लिखने योग्य हो। यहाँ तो सभी आत्मविज्ञापन के उपासक है। केवल एक अपवाद है: और वह 'भारत' के सुयोग्य सम्पादक पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी एम० ए०। आश्चर्य यही है कि उन्होने 'भारत' का सम्पादक होना क्यो स्वीकार कर लिया, क्योकि सम्पादकत्व मे आत्म-विज्ञापन कूट-कूट कर भरा होता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष के लिए तो कोई गुफा ही ज्यादा उपयुक्त स्थान होती। यहां कैसे भूल पडे?

इसके आगे आपने साहित्य के उद्देश्य और क्षेत्र की पवित्रता पर ज्ञान से भरी बाते कही है। हम उसका एक-एक शब्द स्वीकार करते है। बेशक साहित्य सात्विक जीवन है। बेशक, वह कठिन तपस्या और महान यज्ञ है लेकिन जब कोई सूत्रो मे बाते करे जिसको समझने के लिए किसी दार्शनिक के पास जाना पड़े, तो फिर उसका क्या जवाब? बात भी तो समझ मे आवे। उदाहरणार्थ इन वाक्यो को लीजिए—

'जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रह जाते उस साहित्य की वह भाव-भूमि है। वहां अपरिग्रह का साम्राज्य है, फोटो नही छापे जाते। वहां वाणी मौन रहती है, गाथा गाने मे सुख नही मानती। उस उच्च स्तर मे जितने क्रिया-कलाप होते हैं, आत्म प्रेरणा से होते हैं।

जहाँ वाणी मौन रहती है, वह साहित्य है? वह साहित्य नहीं गूँगापन है। साहित्य का काम, भावों का अन्तःकरण मे अनुभव करना ही नहीं, उनको व्यक्त करना है। वह मनो भाव तभी साहित्य कहलाते है, जब वह व्यक्त हो जाते है, वाणी मे प्रकट होते हैं। तुलसी-दास ने रामायण द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त किया है अन्यथा आज उनका कोई नाम

फिर वही शून्य शब्दाडम्बर, वही रहस्य भरी बातें, जो सुनने मे गूढ़, पर वास्तव मे निरर्थक है ! भारत की दार्शनिक संस्कृति मे समाचार पत्रों का विधान भी तो नही है। फिर आप क्यो 'भारत' का सम्पादन करते हैं ? प्राचीन काल मे बहुत-सी ऐसी बातें थी, जो अब नहीं है और बहुत सी ऐसी बाते नहीं थीं, जो अब है। तब कोई अँगरेजी का एम० ए० भी नही होता था। मै आपसे पूछता हूँ, आप अपने नाम के सामने वाजपेयी और एम० ए० की उपाधियां क्यों लगाते है ! केवल आत्म-विज्ञापन के लिए या इसमे और कोई रहस्य है ? भारत के सन्त हिमालय में गल गये, मगर अमर साहित्य की सृष्टि भी कर गये, नहीं तो आज आप उपनिषद, वेद, रामायण और महाभारत के दर्शन करते ? कालिदास, माघ, भास और बाण ने साहित्य लिखा या नहीं ? या वह भी गल गये और उनके नाम से आत्मविज्ञापन के इच्छुक जनों ने पुस्तकें लिख डाली ? प्राचीन भारत ने अपनी आत्मकथा नहीं नष्ट की, कभी नहीं, उनकी आत्मकथा आज भी सूर्य की भांति चमक रही है। हां, केवल उनका रूप यह नहीं था। उन्होंने अपनी आत्मकथा मन्त्रों, श्लोकों और आत्मानुभवों के रूप में लिखी। हम आज गद्य लेख मे और Directly लिख रहे हैं। साहित्य में कल्पना भी होती है और आत्म-अनुभव भी। जहां जितना आत्मानुभव अधिक होता है, वह साहित्य उतना ही चिरस्थायी होता है। आत्म कथा का आशय है कि केवल आत्म-अनुभव लिखे जावें, उसमें कल्पना का लेश भी न हो। बड़े बड़े लोगों के अनुभव बड़े-बड़े होते है, लेकिन जीवन मे ऐसे कितने ही अवसर आते है, जब छोटों के अनुभव से ही हमारा कल्याण होता है। सुई की जगह तलवार नहीं काम दे सकती।

आगे चलकर वाजपेयी जी ने फिर एक अत्यन्त विवादास्पद बात कही है। सुनिए —

'साहित्य का केवल वाणी-विलास मानने वाले आदमी उसके उपयोगितावाद की दुहाई दे सकते है, जैसे श्रीयुत प्रेमचन्दजी ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी वगैरह का नाम लेकर दी है; परन्तु हम तो उसे बहुत ही साधारण कोटि की धारणा मानते हैं। लौकिक उपकार ही साहित्य की कसौटी नहीं है और न वह साहित्यकार के विकास मे सहायक बन सकती है। नीति के दोहे लिखने के दिन गये। इस समय हिन्दी के रचनाकारों को अपने संस्कार और अपनी साधना की आवश्यकता है। दूसरों की भलाई का बीड़ा वे आगे कभी उठावेंगे। फिर इस साधारण परोपकारी दृष्टि से भी आत्मकथा लिखने के योग्य हिन्दी मे कितने आदमी है। कितने ऐसे महच्चरित है जिनकी जीवनी हिन्दी-जनता की पथ-नियामक बन सकती है ?

सकता। एक महात्मा से किसी ने पूछा था—आप इतने बुद्धिमान कैसे हुए? उसने जवाब दिया—मूर्खों की सोहबत से।

यहाँ तक तो ऊपर की बातें थीं। अब तत्त्व की बात सुनिए। श्रीयुत वाजपेयी जी फरमाते हैं—

'परन्तु जब 'हंस' की ओर से लिखा गया कि आत्मकथांक तो निकलेगा ही, तब मैंने उपर्युक्त टिप्पणी लिखी थी, जिस पर बिगड़ कर प्रेमचन्दजी लिखते हैं, 'हंस' को मेरी सम्मति की ज़रूरत नहीं है! प्रेमचन्दजी यदि साहित्यिक शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकते············तो ऐसा न करने से उनकी असहिष्णुता जो असत्य और असभ्य रूप धारण करती है, उससे दूसरों को नहीं, उनको और उनके पत्र को ही क्षति उठानी पड़ सकती है।'

आश्चर्य है 'जागरण' के अनुद्वेगशील सम्पादक महोदय को इन पंक्तियों पर कोई टिप्पणी जमाने की जरा भी जरूरत न मालूम हुई! आप मुझे एक राय देते हैं मैं कहता हूँ, मुझे आपकी राय की जरूरत नहीं. मेरी जो इच्छा होगी, करूँगा. मैं आपकी राय का पाबंद नहीं हूँ। आपने आत्मकथांक निकालने का विरोध किया। आपही के जैसे बुद्धि और विवेक रखनेवाले बहुत से भाइयों ने आत्मकथांक निकालने का समर्थन किया। अगर अशिष्टता न हो, तो मैं 'जागरण' के सम्पादक को भी समर्थकों में ही रख सकता हूँ। मैं मानता हूँ, इतनी रुखाई से मुझे वह वाक्य न लिखना चाहिए था। मुझे उसका खेद था और बहुत कुछ परितोष हो जाने पर, अब भी है; लेकिन यह कहना कि हम आपकी बात नहीं मानते, कठोर होते हुए भी उतना कठोर नहीं है, जितना यह कहना कि तुम असत्य हो और असभ्य हो, इसका खमियाजा तुम्हें उठाना पड़ेगा।

लेकिन जब अहंकार को चोट लगती है, तो आदमी सचेत रहने का प्रयास करने पर भी बौखला ही जाता है। अन्त में हम श्रीयुत नन्ददुलारे जी वाजपेयी से नम्रता के साथ निवेदन करते हैं, कि मेरी तो अच्छी-बुरी किसी तरह कट गई, धन तो हाथ न लगा. हालाँकि कोशिश बहुत की. और अब इस फिक्र में हूँ, कि कोई गाँठ का पूरा रईस फँस जाय. तो अपनी कोई रचना उसे समर्पण कर दूँ: लेकिन आपको अभी बहुत कुछ करना है, बहुत कुछ सीखना है, बहुत कुछ देखना है। आदर्श बहुत अच्छी चीज है: लेकिन संसार में बड़े-से-बड़े आदर्शवादियों को भी कुछ न कुछ झुकना ही पड़ता है। यह न समझिए, कि जो कुछ आप समझते हैं, वही सत्य है, दूसरे निरे गावदी हैं। मतभेद होना स्वाभाविक

सकता। एक महात्मा से किसी ने पूछा था—आप इतने बुद्धिमान कैसे हुए? उसने जवाब दिया—मूर्खों की सोहबत से।

यहाँ तक तो ऊपर की बातें थी। अब तत्त्व की बात सुनिए। श्रीयुत वाजपेयी जी फरमाते हैं—

'परन्तु जब 'हंस' की ओर से लिखा गया कि आत्मकथाक तो निकलेगा ही, तब मैंने उपर्युक्त टिप्पणी लिखी थी, जिस पर बिगड कर प्रेमचन्दजी लिखते हैं, 'हंस' को मेरी सम्मति की ज़रूरत नहीं है! प्रेमचन्दजी यदि साहित्यिक शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकते············तो ऐसा न करने से उनकी असहिष्णुता जो असत्य और असभ्य रूप धारण करती है, उससे दूसरों को नहीं, उनको और उनके पत्र को ही क्षति उठानी पड़ सकती है।'

आश्चर्य है 'जागरण' के अनुद्वेगशील सम्पादक महोदय को इन पंक्तियो पर कोई टिप्पणी जमाने की जरा भी जरूरत न मालूम हुई। आप मुझे एक राय देते है, मै कहता हूँ, मुझे आपकी राय की ज़रूरत नहीं, मेरी जो इच्छा होगी, करूँगा, मैं आपकी राय का पाबन्द नहीं हूँ। आपने आत्मकथाक निकालने का विरोध किया। आपही के जैसे बुद्धि और विवेक रखनेवाले बहुत से भाइयों ने आत्मकथाक निकालने का समर्थन किया। अगर अशिष्टता न हो, तो मैं 'जागरण' के सम्पादक को भी समर्थकों मे ही रख सकता हूँ। मैं मानता हूँ, इतनी रुखाई से मुझे वह वाक्य न लिखना चाहिए था। मुझे उसका खेद था और बहुत कुछ परितोष हो जाने पर, अब भी है, लेकिन यह कहना कि हम आपकी बात नहीं मानते, कठोर होते हुए भी उतना कठोर नहीं है, जितना यह कहना कि तुम असत्य हो और असभ्य हो, इसका खमियाजा तुम्हें उठाना पड़ेगा।

लेकिन जब अहंकार को चोट लगती है, तो आदमी संयत रहने का प्रयास करने पर भी बौखला ही जाता है। अन्त मे हम श्रीयुत नन्ददुलारे जी वाजपेयी से नम्रता के साथ निवेदन करते है, कि मेरी तो अच्छी-बुरी किसी तरह कट गई, धन तो हाथ न लगा, हालाँकि कोशिश बहुत की, और अब इस फिक्र में हूँ, कि कोई गाँठ का पूरा रईस फँस जाय, तो अपनी कोई रचना उसे समर्पण कर दूँ; लेकिन आपको अभी बहुत कुछ करना है, बहुत कुछ सीखना है, बहुत कुछ देखना है। आदर्श बहुत अच्छी चीज़ है, लेकिन संसार में बड़े-से-बड़े आदर्शवादियों को भी कुछ न कुछ झुकना ही पड़ता है। यह न समझिए, कि जो कुछ आप समझते हैं, वही सत्य है, दूसरे निरे गावदी हैं। मतभेद होना स्वाभाविक

कथा' के इस अत्यन्त व्यक्तिगत विषय से 'अहं' के सब अङ्कुश खींच लेना तो और भी कठिन है। हमने यही कठिनाई दिखाई है। क्या यह 'शाब्दिक गोरखधन्धा' है?

यही हमारे उपर्युक्त उद्धरण का आशय था, पर प्रेमचन्दजी एक शब्द को ले कर मजाक करने लगे—"जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है? वह साहित्य नहीं गूँगापन है" यदि इस प्रकार की दलील की जाय तो हम भी कह सकते हैं कि उपन्यास कहानियाँ और लेख लिखते समय क्या आप की वाणी चिल्लाया करती है? आपकी किन-किन रचनाओं का कंठ फूट चुका है? क्या वह आविष्कार लखनऊ में हुआ है जिससे साहित्यिक पुस्तकें वहाँ की कुंजड़िनों की तरह वाचाल बन गई हैं? शायद इसे आप 'शाब्दिक गोरख धन्धा' न समझें क्योंकि यह आपकी ही तर्कप्रणाली का अनुकरण है।

मेरा एक अन्य उद्धरण देकर प्रेमचन्द जी उसे 'शून्यशब्दाडम्बर, रहस्य भरी बातें, सुनने में गूढ़ पर वास्तव में निरर्थक' बतलाते हैं। वह यह है—

"हमारे देश में आत्मकथा लिखने की परिपाटी नहीं रही। यहाँ की दार्शनिक संस्कृति में उसका विधान नहीं है। यहाँ के सन्त हिमालय की कन्दराओं में गल कर विश्वशक्ति की समृद्धि करते थे और करते हैं। प्राचीन भारत अपना इतिवृत्त और अपनी आत्मकथा नष्ट कर आज चिरजीवन का रहस्य बतलाता है और जिन्होंने गाथाएँ लिखीं वे विला गये। इस युग के महापुरुष महात्मा गांधी ने जो आत्मकथा लिखी है उसकी मूल भावना है—प्रायश्चित्त, अर्थात् वह केवल एक नकारात्मक योजना है, परन्तु प्रेमचन्दजी कैसी आत्मकथाएँ लिखा रहे हैं यह बतलाने की जरूरत नहीं।"

इसमें क्या 'शून्य शब्दाडम्बर' है? क्या यह इतिहाससिद्ध सत्य नहीं कि प्राचीन भारत में इतिवृत्त लिखने वालों की आश्चर्यजनक कमी रही है? क्या यह विज्ञान का प्रमाण नहीं कि शक्तिसंचय के लिए बहिर्मुखी वृत्ति अहितकर है? क्या इसमें भी संदेह है कि प्राचीन हिन्दू जाति आज भी जीवित है जब कि प्राचीन मिस्र, ग्रीस और रोम संसार से मिट गये। क्या यहाँ व्यक्ति के विकास की उच्च कक्षा में सन्यास का पाठ नहीं पढ़ाया गया? क्या व्यक्तिगत साधना का अर्थ आप नहीं समझते और महात्मा गांधी की आत्मकथा में आदि से अन्त तक सत्य की वह यज्ञाग्नि दहकती नहीं देखते जिसमें मित्रवर वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'भस्मान्त जड़ शरीर विलीन हो गया है, आत्मकथा का मूल अहङ्कार विशाल होकर विराट् में मिल गया है, इसीलिए 'सत्य के प्रयोग' देखने में आत्मकथा होने पर भी 'अहमेतत्' की अमृत ध्वनि से ओत-

कथा' के इस अत्यन्त व्यक्तिगत विषय से 'अह' के सब अङ्कुश खींच लेना तो और भी कठिन है। हमने यही कठिनाई दिखाई है। क्या यह 'शाब्दिक गोरखधन्धा' है?

यही हमारे उपर्युक्त उद्धरण का आशय था, पर प्रेमचन्दजी एक शब्द को ले कर मजाक करने लगे—"जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है? वह साहित्य नहीं गूंगापन है" यदि इस प्रकार की दलील की जाय तो हम भी कह सकते हैं कि उपन्यास कहानियाँ और लेख लिखते समय क्या आप की वाणी चिल्लाया करती है? आपकी किन-किन रचनाओं का कंठ फूट चुका है? क्या वह आविष्कार लखनऊ में हुआ है जिससे साहित्यिक पुस्तके वहाँ की कुजड़िनो की तरह वाचाल बन गई हैं? शायद इसे आप 'शाब्दिक गोरख धन्धा' न समझे क्योकि यह आपकी ही तर्कप्रणाली का अनुकरण है।

मेरा एक अन्य उद्धरण देकर प्रेमचन्द जी उसे 'शून्यशब्दाडम्बर, रहस्य भरी बाते, सुनने मे गूढ पर वास्तव मे निरर्थक' बतलाते है। वह यह है—

"हमारे देश मे आत्मकथा लिखने की परिपाटी नहीं रही। यहाँ की दार्शनिक संस्कृति मे उसका विधान नहीं है। यहाँ के सन्त हिमालय की कन्दराओं में गल कर विश्वशक्ति की समृद्धि करते थे और करते हैं। प्राचीन भारत अपना इतिवृत्त और अपनी आत्मकथा नष्ट कर आज चिरजीवन का रहस्य बतलाता है और जिन्होंने गाथाएँ लिखीं वे विला गये। इस युग के महापुरुष महात्मा गाधी ने जो आत्मकथा लिखी है उसकी मूल भावना है—प्रायश्चित्त, अर्थात् वह केवल एक नकारात्मक योजना है, परन्तु प्रेमचन्दजी कैसी आत्मकथाएँ लिख रहे हैं यह बतलाने की जरूरत नहीं।"

इसमें क्या 'शून्य शब्दाडबर' है? क्या यह इतिहाससिद्ध सत्य नहीं कि प्राचीन भारत मे इतिवृत्त लिखने वालो की आश्चर्यजनक कमी रही है? क्या यह विज्ञान का प्रमाण नहीं कि शक्तिसचय के लिए बहिर्मुखी वृत्ति अहितकर है? क्या इसमे भी सदेह है कि प्राचीन हिन्दू जाति आज भी जीवित है जब कि प्राचीन मिस्र, ग्रीस और रोम ससार से मिट गये। क्या यहां व्यक्ति के विकास की उच्च कक्षा मे सन्यास का पाठ नहीं पढ़ाया गया? क्या व्यक्तिगत साधना का अर्थ आप नहीं समझते और महात्मा गाधी की आत्मकथा मे आदि से अन्त तक सत्य की वह पञ्चाग्नि दहकती नहीं देखते जिसमे मित्रवर वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दो मे 'भस्मान्त उनका शरीर विलीन हो गया है, आत्मकथा का मूल अहङ्कार विशाल होकर विराट् मे मिल गया है, इसीलिए 'सत्य के प्रयोग' देखने मे आत्मकथा होने पर भी 'अहमेतत्' की अमृत ध्वनि ने ओत-

मूर्ख समाज मे उसकी उपयोगिता भी हो जाती है, पर वह वास्तविक उपयोगिता नहीं। उपयोगिता की परीक्षा की एक सीधी कसौटी यह है कि हम देखें कि कोई कृति अपने कृतिकार के विकास मे कहाँ तक सहायक हो सकती है। कनकटे के 'ब्रह्म-ब्रह्म' से उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। वह अपने श्रोता-समाज को धोखा देता और अपने को गड्ढे मे गिराता है। यही उसकी वास्तविक उपयोगिता है। यही कसौटी साहित्य की भी हो सकती है। कनकटे को किसी भले काम से लगना चाहिए। साहित्यकार को भी दूसरो की उपयोगिता का ढोंग न कर अपनी उपयोगिता का रास्ता पकड़ना चाहिए। तुलसीदास का रामचरित-मानस उनके ही 'स्वान्तःसुखाय' है। उसकी उपयोगिता उन्हे ही सन्त बनाने मे थी। दूसरो की बात दूसरे जाने। कोई गाली देता है, कोई पूजा करता है। महात्मा गाधी की आत्मकथा उनके ही 'सत्य का प्रयोग' है। इससे अधिक हम क्या कहे ?

'सत्य शिव सुन्दरम्' का लतीफा हिन्दी-स सार मे खूब चल गया है। यह बगाल के ब्रह्मसमाज की उद्भावना है जिसे महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा बड़ा विस्तार प्राप्त हुआ है। कुछ लोग इसे उपनिषदो से उत्पन्न बतलाते हैं पर उपनिषदो मे वह कहीं देखने में नही आया। तथापि हिन्दी मे वेद वाक्य से बढ कर उसकी मान्यता है और प्रेमचन्दजी को भी उसका व्यवहार करना भाता है। इसका अर्थ समझने मे हमे अब तक द्विविधा ही है। यदि इसका अर्थ यह है कि जो सत्य है वही शिव है और वही सुन्दर भी है तो यह सत्य शब्द की व्याख्या मात्र हुई। यह साहित्य-समीक्षा की कसौटी तो नहीं हुई। यदि इसका अर्थ यह है कि सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति साहित्य का लक्ष्य है तो यहां बहुत कुछ आरोप करना पड़ा। प्रेमचन्दजी इसका व्यवहार इसी दूसरे अर्थ में करते हैं। उनका कहना है कि साहित्य का मूलाधार सत्य, सुन्दर और शिव हैं। इस 'शिव' शब्द को हम व्यर्थ समझकर निकाल देना चाहते हैं। सत्य और सुन्दर पर्याप्त हैं। जो सत्य और सुन्दर हैं वे शिव होंगे ही। 'शिव' को बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं। बाहर से लाया हुआ 'शिव' साहित्य का विलास या Luxury है। हम उसकी कीमत नहीं चुका सकते। बाहर से लाने का ही नतीजा है कि साहित्यकार दूसरों का कल्याण करने के धोखे अपनी ही सत्य-साधना भग करते और अपने ही विकास में बाधा डालते हैं।

विवाद के प्रस ग में एक जगह प्रेमचन्दजी सत्य के बहुत नज़दीक पहुँच गये हैं। वहाँ उनमें और मुझमे केवल शब्दों के आग्रह Accent का भेद रह

सिद्धान्तो की चर्चा इतनी ही है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्दजी ने अपने 'आत्मकथाक' के समर्थन में कुछ ऐसी बातें कही हैं जो केवल भ्रम है। उदाहरण के लिए वे एक स्थान पर यह आभास देना चाहते है कि महात्मा तुलसीदास ने जो कुछ लिखा 'आत्मकथा' ही है। यही नही, आपने तो एक तरफ उपनिषद्, वेद, रामायण, महाभारत और दूसरे तरफ 'कालिदास, माघ, भास और बाण' जो कुछ गिनाते बना सब आत्मकथा की श्रेणी में गिना दिया। यह इस आधार पर कि सब ने अपने-अपने अनुभव व्यक्त किये। पर जब प्रेमचन्दजी "क्या आत्मकथा साहित्य का अंग है या नही" शीर्षक पहले लेख मे 'आत्मकथा' को साहित्य के एक विशेष अंग के रूप मे ग्रहण कर तर्क आरम्भ कर चुके है तब अन्यत्र इस प्रकार की विशति करने का कोई अधिकार नही रखते। जब 'आत्मकथा' का एक अर्थ आप आरम्भ में मान चुके हैं तब दूसरे अर्थ को ग्रहण करने मे या तो आपका अनिश्चय प्रकट होता है या वाक्छल।

अन्त में मुझे यह समझकर मनोरञ्जनयुक्त विस्मय होता है कि जिस मूलवस्तु को लेकर यह सम्पूर्ण विवाद हुआ वह 'हंस' का तथा-कथित 'आत्मकथांक' वास्तव में 'आत्मकथाक' नहीं 'संस्मरणाङ्क' के रूप में निकला है। यदि इसका विज्ञापन करने वाले इस विभेद का ध्यान रख कर 'संस्मरणाङ्क' के नाम से विज्ञापन करते तो शायद इतना तूफान उठने की नौबत ही न आती। तथापि 'आत्मकथा' के विषय में प्रेमचन्दजी की बातें सुनने, अपनी बातें कहने और अनेक आदरणीय हिन्दी-सेवियों की बातें जानने का मुझे जो सुअवसर प्राप्त हुआ उसका श्रेय 'हंस' के तथाविज्ञापित 'आत्मकथाक' को ही है। हिन्दी-जनता का इस कहा-सुनी से जो मनोरञ्जन हुआ—और मुझे सूचना मिली है कि उसका विशेष मनोरञ्जन हुआ है—वह अलग।

व्यक्तिगत सम्बन्ध का विचार कर ऊपर मैं जो कुछ कह चुका हूँ आशा है उसके बाद अब मुझे प्रेमचन्दजी से क्षमा-प्रार्थना की आवश्यकता नहीं रही। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब पिछली बार लखनऊ मे दिये हुए अपने वचन के अनुसार प्रेमचन्दजी प्रयाग आ कर मुझे दर्शन देंगे और मेरे अतिथि बनेंगे।

कर, क़दम रखते थे। अभी उस दिन हम 'कविता-कलाप' नाम का आचार्य द्विवेदीजी कृत सग्रह देख रहे थे जिसमे 'महाश्वेता' आदि कितने ही स्त्री-चरित्रों पर कविताएँ लिखी गई हैं। हमने देखा कि सर्वत्र सङ्कोच के कारण कविताएँ त्रुटिपूर्ण हो गई हैं। अधिकतर एक कृत्रिम उपदेश की भावना लिये हुए नारी का सौन्दर्याङ्कण किया गया है और वह सौन्दर्य बहुत ही स्थूल, बाह्य-रेखाबद्ध और नपा-तुला हुआ है। आश्चर्य तो यह है कि कवियो ने शृङ्गार-विषय को काव्यवस्तु बनाने की प्रवृत्ति ही क्यो दिखाई! शायद वह प्रवृत्ति मनुष्यता की अनिवार्य माँग है। जब वह अनिवार्य है तो शृङ्गार यदि विष भी हो तो भी उसे शोध कर गुणकारी बनाना चाहिए था। किन्तु वह गुणकारी किस प्रकार बन सकता है इसकी विधि द्विवेदी-काल के साहित्यसेवियो को निश्चयपूर्वक मालूम न थी। स्मरण रखना चाहिए कि वह ऋषि दयानन्द के आर्य-समाज का युग था जिसकी विशेषता सवर्ग बतलाई जाती है। चित्रकला में रविवर्मा उस काल के प्रतिनिधि थे। उनकी भी रुखाई हम लोगों को मालूम ही है। उस समय लोग घर मे लड़ाई कर के बाहर देशप्रेम जताने मे गौरव का अनुभव करते थे। नारी के प्रति न तो प्राचीन काव्यो का सा औदात्य, न कादम्बरी का-सा सहज स्वातंत्र्य और न पाश्चात्य यथार्थोन्मुख रचनाओ की-सी अकृत्रिम भावना व्यक्त हो सकी। बहुत से कवि जीवन के व्यापक क्षेत्र से हट कर डिप्टी कलक्टरों और तहसीलदारों को 'जुग जुग जिलाने' में ही लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में जब कभी कविगण अपने हृदय की टोह लगाते होंगे तब अपनी रचनाओ में एक अपूर्णता और कृत्रिमता का अनुभव अवश्य करते होंगे। शायद यही अनुभव कर वे प्राचीन रसमय सस्कृत काव्यो का अनुवाद करने को प्रेरित हुए। श्री श्रीधर पाठक ने इसी समय के लगभग कुछ अंग्रेजी कविताएँ पढ़ीं और हिन्दी में उन्हें उद्धृत किया। परन्तु अनुवाद तो आखिर अनुवाद ही है।

एक और बात भी ध्यान देने लायक़ है। ब्रजभाषा मे उस समय शृङ्गारिक समस्यापूर्तियाँ हो रही थीं, जिनके विरुद्ध खड़ी बोली में एक आन्दोलन ही चल उठा था। इन समस्यापूर्तियो में भी ऊपरी हावों-भावों, बाहरी मुद्राओं और स्थूल इंगितों की ही प्रधानता रहती थी। उधर उन लोगों ने शृङ्गार के अतिरिक्त सब कुछ अस्पृश्य समझ लिया और उसे कोरी शारीरिक वर्णना तक ही सीमित रक्खा। इधर इन लोगों ने शृङ्गार को ही अस्पृश्य समझ लिया और उसका या तो त्याग ही कर दिया या उसे उपदेशात्मक काव्य का विषय बना डाला। वे लोग प्राचीनतावादी हो गये, ये लोग नवीनतावादी। उन लोगों को यह शऊर नहीं था कि शृङ्गार का संस्कार करते, इन

वैसी अभिरुचि हो। बहुत से ऐसे आदमी मिलेंगे जो श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के गद्यसौन्दर्य को श्री सुमित्रानन्दन के छन्दों से अधिक पसन्द करें, पर बहुत से ऐसे नहीं भी मिलेंगे। 'कविता-कलाप' की रचनाएँ तो आज बहुत ही कम रुचिकर लगेंगी, उसकी शृङ्गार सम्बन्धी कविताएँ तो निम्न कोटि की समझ पड़ेंगी। उनमें कवियों का हृदय खुल कर कल्पना और भावना की तरंगों में बहा ही नहीं। जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' पढ़ी है फिर 'कविता कलाप' की 'तिलोत्तमा' आदि का वर्णन पढ़ा है वे यह समझ लेंगे कि द्विवेदी-युग कविता के लिए कितना अनुपयोगी और अनुर्वर था। यदि काव्य के लिए अनुपयोगी न होता तो शायद इतने अल्प समय में गद्य की इतनी सुन्दर प्रतिमा खड़ी न की जा सकती। कविता के लिए अनुपयोगी हो, तो भी हिन्दी के लिए वह सुयोग ही था।

उस समय की प्रचलित कविता की दिशा बदलने में अग्रणी श्री जयशङ्करप्रसाद ही ठहरते हैं। श्री श्रीधर पाठक की अनुवादित कृतियों के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ प्रसादजी के पहले की नहीं हैं। कवि श्री रत्नाकर प्राचीन पौराणिक कथा-वस्तुओं को लेकर आलङ्कारिक रचनाएँ कर रहे थे। उनकी भाषा पुरानी और काव्य-संस्कृति मध्यकालीन थी। नवीनता केवल नवीन रूपकों, अलङ्कारों और प्राचीन भावों को नवीन उक्तियों से सज्जित करने में थी। आप कह सकते हैं कि कथानक के प्राचीन होने से क्या उनका चित्रण नवीन नहीं हो सकता? हो सकता है, जैसा मैथिलीशरण जी के 'साकेत' आदि काव्यों में हुआ भी है, किन्तु रत्नाकरजी की वह दृष्टि नहीं थी। वे प्राचीन आत्मा में नव्य प्रकृति का सन्निवेश नहीं करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने प्राचीन आत्मा को ही रंगीन बनाकर उपस्थित किया। उनकी रचना इसीलिए उक्ति-बहुल और आलङ्कारिक हुई। एक बात यहाँ और समझने की है। जिसे हम आज प्राचीन या मध्यकालीन कहते हैं वह उन-उन कालों में प्राचीन नहीं थी जब उसकी सृष्टि हुई थी। उदाहरण के लिए सूरदासजी को लीजिए और उनकी तुलना रत्नाकर से कीजिए। सूरदासजी के काव्य में वही भाव अतिशय प्राकृतिक, रसमय, मनोरम और परिपुष्ट संस्कृति के उन्नायक होकर आये हैं। उनकी काव्यधारा 'रत्नाकर' जी की-सी उक्तिबहुल, अलंकृत और कोरी साहित्यिक (Pedantic) नहीं है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय काव्यगत नवीनता, एक नया संदेश और नई दृष्टि लेकर आये। रत्नाकरजी के 'गङ्गावतरण' से गुप्त जी के 'जयद्रथवध' की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली में एक नई स्पष्ट

मूलक जिन कविताओं में वे समीक्षक अन्त.सौन्दर्य देखा करते हैं उनमें कहीं-कहीं तो अन्तः सौन्दर्य यही होता है कि वे एक उत्तेजनाशील प्रज्वलन मात्र उत्पन्न करती हैं। यदि देखा जाय तो इस प्रकार के अन्तःसौन्दर्य से तो बाह्य सौन्दर्य ही श्रेष्ठ है। इसी के विपरीत हम प्रबन्ध काव्यो के विस्तृत कथानकों और चरित्र-चित्रणो मे जो ऊपरी दृष्टि से बाह्य प्रतीत होते हैं उत्कृष्ट श्रेणी का भाव-सौन्दर्य देखते हैं। वास्तव मे सौन्दर्य की सत्ता किसी काव्य-साँचे की बंदिनी नहीं। वर्णनात्मक और गीतात्मक काव्य-भेद से इसके बाह्य और आन्तर सौन्दर्य के भेद करना मेरे विचार से असङ्गत है। गीत-काव्य और प्रबन्ध-रचना में भेद यह है कि एक में काव्य किसी एक ही सूक्ष्म किन्तु प्रभावशाली मनोभाव, दृश्य या जीवनसमस्या को लेकर केन्द्रित हो जाता है और दूसरे मे बहुमुखी जीवन-दिशाओं और स्थितियों का चित्रण किया जाता है। महाकाव्य की भूमिका प्रायः उदात्त और स्वर गम्भीर हुआ करता है, जब कि गीतों में माधुर्य की प्रधानता होती है। वर्णनात्मक काव्य में बाह्य जगत और जीवन-व्यापारों का सौन्दर्य दर्शनीय होता है और मुक्तक काव्य में मानसिक स्वरूपो, सूक्ष्म और रहस्यमय मनोगतियो की सुषमा अधिक देखने को मिलती है। दोनो में ही उच्च कोटि का काव्य, जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हमे मिल सकती है।

यह सब कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि उपर्युक्त अद्भुत आलोचकों के कारण हिन्दी काव्यजगत् मे अत्यंत हानिकारिणी विचार-परम्परा स्थिर होती जा रही है। जहा कोई सौन्दर्य नहीं वहाँ अंतःसौन्दर्य देखा जाता है। जहाँ सौन्दर्य है उसकी अवहेलना की जाती है। जो गीत-काव्य केवल काव्य सम्बन्धी बाह्य वर्गीकरण की वस्तु है उसे जीवन के अन्त.सौन्दर्य का प्रतिनिधि समझा जाता है। यह सब का सब भीषण भ्रम है। कविता की प्रकृत समीक्षा में न कहीं गीतकाव्य है, न कहीं अगीत काव्य। न कहीं अन्तः सौन्दर्य है, न कहीं बाह्य सौन्दर्य। सब प्रकार के काव्य मे सब प्रकार का सौन्दर्य समाहित किया जाने योग्य है। हमें देखना यही चाहिए कि कहाँ पर क्या है?

श्री जयशङ्कर प्रसाद के 'चित्राधार' में उनकी विशिष्ट प्रकार की दार्शनिक अभिरुचि के कारण प्रकृति-प्रेम एक विशिष्ट प्रकार से व्यक्त हुआ है। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रकृति के प्रति उनका निसर्ग सिद्ध तादात्म्य नहीं देख पड़ता। प्रत्येक पुष्प में उन्हें वह प्रीति नहीं जो वर्ड्सवर्थ की थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक माटी उनकी आत्मीय नहीं। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नहीं करते। यह 'चित्राधार' की बात कही जा रही है। उसमें उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता मे

प्राकृतिक दृश्यावली कवि के हृदय के योग से अपनी स्वतन्त्र विशेषता रखती है। इसमे परम्परा-रक्षण के स्थान पर नवीन उद्योग है। बाह्य प्रकृति की रमणीयता के साथ-साथ प्रेम की रमणीयता की यह छोटी-सी आख्यायिका हिन्दी मे एक नवीन भावधारा का आगमन सूचित करती है। प्रेम-पथिक का यह छोटा सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन क्षण मे लिखा गया है।

'आंसू' प्रसादजी का विरहकाव्य है। यह बड़ी ही मनोरम गीतकविता है। हिन्दी मे इसकी गणना थोड़ी-सी उत्कृष्ट रचनाओ मे की जा सकती है। आधुनिक हिन्दी मे जो थोड़े-से प्रथम श्रेणी के विरह-गीत है उनमे 'आंसू' का भावना-सङ्कलन श्रेष्ठ होने के कारण वही उत्तम गीत है। 'आँसू' को अध्यात्म और छायावाद आदि का नाम देकर उसे जटिल बना देने के पहले उसको उसके प्रकृत रूप मे देखना चाहिए। विरह का इतना मार्मिक वर्णन करने वाले कवि को किसी वाद की छाया लेने की जरूरत नहीं—उसकी उच्चता स्वतःसिद्ध है। काव्य-विकास के जो परमाणु खिलकर 'आँसू' मे निखरे है उन्हे वादो के बखेड़े मे डाल देने की हम तजवीज नहीं कर सकते। कवि के साथ यह अन्याय अनुचित होगा।

'आंसू' प्रसादजी की पूर्व की रचनाओं से बहुत आगे है। उसमे 'चित्राधार' की सी हलकी, चमत्कार-चञ्चल दृष्टि नहीं है, न 'प्रेमपथिक' का-सा 'रोमांटिक' प्रेमादर्श का निरूपण है—वह अधिक गहरी चीज़ है। 'आंसू' कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोग-शाला का आविष्कार है। 'आँसू' में कवि निःसकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके अभाव मे आँसू बहाता और अन्त मे जीवन से समझौता करता है। विलास मे जो मद, जो विराट आकर्षण है उसे कवि उतने ही विराट रूपको और उपमानो से प्रकट करता है। उसके अभाव मे जो वेदना है वही 'आंसू' बन कर निकली है। इसे आप कवि का आत्मस्वीकार मान सकते हैं जिससे बढ़ कर काव्योपयोगी वस्तु दूसरी है ही नहीं। यह कहने से क्या लाभ कि यह वियोग किसी परोक्ष सत्ता के प्रति है, जब प्रत्यक्ष जीवन का यह वियोग अधिक मार्मिक और अधिक सत्य है? जब कवि किसी अत्यन्त आवश्यक सासारिक समस्या पर अपने अन्तरतम की बातें कर रहा है तब उसे उसी रूप में न ग्रहण कर हम न अपने प्रति न्याय करते हैं न कविता के प्रति। 'आँसू' में छायावाद कहाँ है? उसके वियोग वर्णन मे? नहीं, वह तो साक्षात् मानवीय है। क्या उसकी सम्मिलन-स्मृति मे? नहीं, वह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है। हिन्दी मे जब किसी के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह इस तरह

उनके विकास के साथ-साथ स्पष्ट देख पड़ता है। प्रसादजी मूलतः प्रेम-रहस्य के कवि हैं। सामाजिक विचारणा मे वे मिल की भाँति व्यक्तिवादी हैं और सामूहिक प्रगति सम्बन्धी उन आदर्शों से अनुप्रेरित है जो मध्यवर्ग के बौद्धिक और औद्योगिक उत्थान के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे, जिनमे स्वभावतः अल्पसंख्यक उच्चवर्ग और उसके ह्रासोन्मुख-सस्कारों के विरुद्ध नवीन जनसत्तात्मक भावो का प्राधान्य था। यूरोप मे यही प्रगति 'लिबरलिज्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई, और अब भी जनसत्तात्मक राष्ट्रों मे, आवश्यक परिवर्तनो के साथ प्रचलित है। राष्ट्रीय औद्योगीकरण, वर्गसघर्ष और शोषण के कटु अनुभवों से उत्पन्न नवीन 'यथार्थवाद' का प्रसादजी के साहित्य मे केवल एक आभास मिलता है। यद्यपि प्रसादजी की मूल प्रवृत्ति 'यथार्थोन्मुख' ही है किन्तु संकीर्ण अर्थ मे 'यथार्थवादी' वे नही है। कोरा भौतिक दर्शन और वैज्ञानिक प्रगति से आक्रान्त मनोभाव प्रसादजी मे हम नहीं पाते।

प्रसादजी मनुष्यो के और मानवीय भावनाओ के कवि है। शेष प्रकृति यदि उनके लिए चैतन्य है तो भी मनुष्य सापेक्ष्य है। यह विकास-भूमि यदि संकीर्ण है तो भी मनुष्यता के प्रति तीव्र आकर्षण से भरी हुई है। 'आँसू' में प्रसादजी ने यह निश्चित रीति से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितो पर वे विराट प्रकृति को भी साज सजाकर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता के विजय का शङ्ख-नाद है। कवि जयशङ्कर प्रसाद का प्रकर्ष यहीं पर है। यहीं प्रसादजी प्रसादजी हैं। 'आँसू' मे वे वे हैं। 'झरना' में एक विचित्र अवसाद, जो नवीन बौद्धिक अन्वेषणों और तज्जन्य सशयों का परिणाम जान पड़ता है, बहुत ही स्पष्ट है। 'प्रेम-पथिक' की आदर्शात्मक भाव-धारा की प्रतिक्रिया भी इसमें दिखाई देती है। यह प्रसादजी के मानसिक विकास की दृष्टि से परिवर्तन काल की सृष्टि है, किन्तु प्रसादजी जैसे प्रतिनिधि कवि के लिए जो नवीन प्रयोगों में (सामयिक विचार-प्रवाहों के नये चक्रों मे) स्वभावतः व्यस्त रहते थे, यह कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। प्रश्न यह अवश्य है कि वे नवीन प्रयोग कौन से हैं जिनका अनिवार्य परिणाम 'झरना' है। मेरे विचार से ये वे प्रयोग हैं जो प्रसादजी को क्रमशः आशा और प्रमोद के लोक से हटाकर जीवन की गम्भीर परिस्थितियों का साक्षात्कार करा रहे थे। अवश्य ही यह साक्षात्कार 'झरना' में स्पष्ट नहीं है, केवल भाव-परिवर्तन की झलक भर है, किन्तु कटु वास्तविकता, गम्भीर जीवनानुभव तथा स्थान स्थान पर प्रकट होने वाली आलोकरहित प्रगाढ़ निराशा की वे प्रेरक शक्तियाँ यहीं उत्पन्न हो रही थी जिनका परिपाक हम आगे चलकर 'कामायनी' काव्य मे देखते

विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी मे शायद शताब्दियों के बाद हुआ है। इसीलिए मैं इस काव्य का अभिनन्दन गोस्वामी तुलसीदासजी की इन स्मरणीय पंक्तियों से करता हूँ:—

अस मानस मानस चख चाही
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही

कवि की इस 'मानस-रचना' को मन की आँखों से देखने पर प्रकट होता है कि उसमें मन की नैसर्गिक इच्छाओं और भावनाओं के विस्तार का पूर्ण अवसर दे कर उसके उदात्त स्वरूप का उद्घाटन किया गया है और साथ ही एक अनुपम समरसता में सजा कर उसे विशृङ्खल बनने से बचाया गया है। आप कह सकते हैं कि यह समरसता भी अपनी सीमारेखाएँ बना कर रूढ़ि का रूप धारण कर सकती है। सम्भव है ऐसा हो, किन्तु इस भय से कोई कवि अपने काव्य मे आवश्यक सन्तुलन (Equilibrium) की नियोजना बिना किये कैसे रह सकता है! फिर आप पूछ सकते हैं कि क्या यह पुरानी रूढ़ि के स्थान पर नई रूढ़ि का स्थापन करना नहीं हुआ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि सम्भव है ऐसा भी हो, किन्तु हम यह भूल नहीं सकते कि नई रूढ़ि में हमें नये जीवन का रस मिलता है जब कि प्राचीन रूढ़ि मे ताजे जीवन-स्रोतों का अभाव ही नहीं होता, नई जीवन-धारा को अपनी कठोर शिलाओं मे दबा रखने की दुश्चेष्टा भी होती है। यह दोनों का अन्तर भी कम ध्यान देने योग्य नहीं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कामायनी एकाङ्गी और अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुख रूढ़ि के स्थान पर, व्यापक और बहुमुखी जीवन-दृष्टि का सन्देश सुनाती और नियोजना करती है।

कामायनी काव्य अपने पूर्व युग की कृतियों से अनेक विशेषताएँ रखता है। प्रथम, उसका मनोवैज्ञानिक आधार सुविकसित और प्रौढ़तर है तथा उसमें एक व्यापक अन्तर्निहित दार्शनिक निरूपण अपने लिए स्थान बना सका है। यह निरूपण प्रसादजी की समन्वयशील विचारणा का परिणाम है। द्वितीय, कामायनी में पूर्वयुग की नीतिवादी प्रतीकव्यंजना के स्थान पर आनन्दवादी आध्यात्मिक व्यंजना की स्थापना है। तृतीय, इसमें पूर्व युग की 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' की बँधी हुई, आदर्शवादी लीक को तोड़ कर जीवन प्रयोगों का विस्तार दिखाया गया है। यह विस्तार नवीन युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रतीक है। चतुर्थ, रहस्यवाद और प्रेमरूपात्मक काव्य के भीतर प्रसादजी ने नवीन सांस्कृतिक निर्माण का कार्य प्रचुर परिमाण में कामायनी द्वारा किया

मैं साहित्य का समीक्षक मानने से इन्कार करता हूँ। उन्हे चाहिए कि वे राजनीतिक गुटबन्दी के भीतर ही अपने विचारो का आदान-प्रदान किया करें।

यहाँ मै उन असाहित्यिक प्रगतिवादियो के लिए उन्ही के एक गुरुदेव की सम्मति का कुछ अंश उद्धृत करूँगा जो उन्होने एक शताब्दी पूर्व के रोमान्सवादी कवि 'स्काट' के सम्बन्ध मे दी थी। ये उनके गुरुदेव साहित्यिक क्षेत्र से अधिक सम्बन्ध नहीं रखते फिर भी इनकी सम्मति काफी निष्पक्ष है। आप (मेरा मतलब महाशय हैवलक एलिस से है) लिखते हैं :—

"Scott's work is the outcome of a rich and generous personality endowed with an eager imaginative receptivity When he appeared he brought into the world what was, in effect, with all its imperfections, a new vision of the panorama of human life on earth It has ceased to thrill by its novelty But when it appeared it appealed mightily to grown men and women and influenced the course of literature everywhere Half a century ago it was still a Paradise for the young And now ? Well, it remains a source of joy if you have the fine thirst do drink there

Today I view Scott with more balanced judgment. His faults were many and his inequalites disconcerting but the same may be said, I find, of the very different virtues and vices of the most modern men, D H Lawrence or whom you will"

यह तो हुई 'स्काट' की बात। प्रसादजी तो उसकी अपेक्षा बहुत आधुनिक हैं। वे कोरमकोर रोमासवादी भी नहीं, वे रहस्यवाद के ऊँचे समतल पर पहुँचते हैं और सरलतर भावना की सृष्टि करते हैं। मैं तो 'अध्यात्म' शब्द से नहीं घबड़ाता, क्योंकि मैंने 'अध्यात्म' का लेबल लगा हुआ उच्च काव्य पढ़ा है किन्तु जो इस नाम से ही इसे जीवन के बाहर की वस्तु समझ लिया करते हैं उनके आश्वासन के लिए मैंने कहा है कि प्रसादजी का रहस्यवाद अथवा उनकी आध्यात्मिक अनुभूति मानव-जीवन-व्यापार

प्रगतिशील समाधान है ६० प्रतिशत समस्याओं के लिए वर्गसंघर्ष और क्रान्ति, सामाजिक विधिनिषेधों का परित्याग और नवीन प्रयोग। प्रसादजी का रहस्यवाद, चाहे उसे आँसू के पद्यों में देखिए अथवा कामायनी के अन्तिम सर्ग में, मानसिक सन्तुलन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। गीता में भी रहस्यवाद या आध्यात्मिक समाधान सांसारिक द्वन्द्व का प्रेरक ही सिद्ध हुआ है। हमें किसी वस्तु से न चिढ़ कर उसके प्रयोग की परीक्षा कर देखनी चाहिए। तभी हम रचनाकार का ठीक उद्देश्य समझ सकेंगे।

रचनाकार की समसामयिक स्थिति से भी हमें अपरिचित नहीं रहना चाहिए। प्रसादजी मुख्यत. साम्य, सख्य और स्वातन्त्र्य (equality, fraternity and liberty) के कल्पनाशील आदर्शवाद से अनुप्रेरित थे। फिर भी उन्होंने एक भविष्य द्रष्टा की भाँति आगामी वर्ग-संघर्ष का आभास दिया है। उन्होंने एक कल्पनाप्रवण, सहानुभूतिशील और अग्रगामी मध्यवर्ग के चित्रण से आरम्भ कर श्रमिक दम्पति के चरित्रनिर्माण तक अपना कथानक साहित्य पहुँचा दिया है। कामायनी काव्य में उन्होंने एकांगी भौतिक प्रगति और संघर्ष का विरोध अवश्य किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में हमें आगे कुछ और कहना है। यहां इतना ही कहेंगे कि प्रसादजी कम्यूनिस्ट उपचारों को कट्टरपन के साथ ग्रहण नहीं करते, किन्तु अपने युग की प्रगति में वे पिछड़े हुए नहीं थे।

इस प्रश्न को इस हद तक बढ़ाना इसलिए आवश्यक था कि आजकल 'रोमन्स' और 'रहस्यवाद' का नाम देकर प्रसादजी के साहित्य के प्रति विरक्ति उत्पन्न की जाती है। यह विरक्ति अस्पृश्यता की सीमा तक पहुँच जाती है और हम प्रसादजी का वास्तविक ऐतिहासिक मूल्य आँकने से भी वंचित रह जाते हैं। कुछ लोग तो साहित्यिक और कलात्मक उत्कर्ष की ओर ध्यान न देकर, जीवनमय चरित्रों के निर्माण से बहुत दूर रहनेवाले लीकपीटक सद्धर्मवादी को साहित्य-शिरोमणि क़रार देने लगे हैं। ये लोग अपने को साहित्य और जीवन का समन्वयकारी समझते हैं, किन्तु इन्हें यह पता नहीं कि साहित्य में जीवन केवल कुछ सैद्धान्तिक नुस्खों और कुछ चुने-चुनाये वाक्यांशों को नहीं कहते, उसकी और भी गहरी सत्ता है। न इन लोगों को यही मालूम है कि साहित्य के भीतर प्रगतिशील जीवन की सृष्टि कैसे की जाय। राजनीतिक प्रगतिशीलता का काम नुस्खों से चल सकता है, पर साहित्यिक प्रगतिशीलता जीवन की गहराई में बिना प्रवेश किये नहीं आती। फल यह होता है कि राजनीतिक सिद्धान्तवादी अपने नपे-तुले नुस्खे न देख कर प्रौढ़, जीवनमय साहित्य का निर्माण करने वाले साहित्यिकों के प्रति नाक-

मन से, वचन से, कर्म से, वे प्रभु-भजन में लीन थे।
विख्यात ब्रह्मानन्द नद के, वे मनोहर मीन थे।

× × ×

ये गगनचुंबित महा प्रासाद, मौन साधे हैं खड़े सविषाद।
शिल्प कौशल के सजीव प्रमाण, शाप से किसके हुए पाषाण।
या अड़े हैं मेटने को आधि, आत्मचिन्तन रत अचल ससमाधि।
किरणचूड़ गवाक्ष लोचन मींच, प्राण से ब्रह्माण्ड मे निज खींच।

× × ×

प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं।
यह नश्वर तनु लेकर कैसे, स्वागत सिद्ध करूँगी मैं।
नश्वर तनु पर धूल किन्तु, हाँ उन्हीं पदों की धूल;
कर्मबीज जो रहे मूल में उनके सब फल-फूल,
अर्पण तुम्हें करूँगी मैं, प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं।

× × ×

अब यदि इन्हे हम औसत तौर पर गुप्तजी की प्रतिनिधि रचना मान लें तो हम देखेंगे कि इनमें एक विनयपूर्ण सीधा-सादा आदर्शवाद जिसमें आरंभिक राष्ट्रीयता का मीठा-मीठा स्पन्दन है, कल्पना की ऊँची उड़ानो से रहित अनुभूति, द्वन्द्वरहित भाव और एकहरी अभिव्यक्ति है। इसमें किसी जीवनतत्त्व का वैषम्य, आलोड़न विलोड़न, सशय और तज्जनित भावोत्कर्ष आयोजित नहीं है। सीधा रास्ता, सीधी समस्या और सीधा समाधान। किन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यह सिधाई आश्रमवासिनी सिधाई है। जहा तक मैं समझ पाया हूँ प्रेमचन्दजी की भी सफलता इसी प्रकार की सीधी समस्याओं के समाधान में है जो छोटी कहानियों में समा सकी है। कहानियों के निर्माण में साधारण उत्थान-पतन भावों का आरोह-अवरोह, स्थितियों का वैचित्र्य दिखा सकना ये प्राथमिक सफलताएँ उनकी हैं। बड़े जीवन-चक्रों को हाथ मे लेना, पेचीदा भावधाराओं और सास्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उठी हुई जटिल समस्याओं का निरूपण करना, व्यक्ति, देश और जाति के जीवन के वृहत छाया-आलोकों को उद्घाटित कर सकना; साराश यह कि जीवन के गहरे और बहुमुखी घात-प्रतिघातों और विस्तृत जीवन-दशाओं में पद-पद पर आने वाले उद्वेलनों को चित्रित करना, उन्हें सँभालना और अपनी कला में उन सब को सजीव करना गुप्तजी और प्रेमचन्दजी की

ये प्रसादजी की औसत रचना के उदाहरण हैं और गुप्तजी के उद्धृत अवतरणों से मिलते-जुलते विषयों पर चुने गये हैं। पाठक देखेंगे कि इनमें एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है। ये ही काव्य में छायावाद के उपकरण बन कर आये। इस नवीन प्रवर्तन के मूल में एक स्वातन्त्र्यलालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की एक अनिर्दिष्ट स्थिति देख पड़ती है। ये सभी एक कल्पनाविशिष्ट दर्शन के अङ्ग बने हुए हैं जिसमें बड़ी व्यापक सहानुभूतियाँ हैं। इस नवीन दर्शन में कल्पना, भावना और कर्मचेतना की सम्मिलित झाँकी है। इसे अकेले कर्मसंघर्ष से सम्भूत दर्शन हम नहीं कह सकते। यह उसका पूर्वरङ्ग अवश्य कहा जायगा। इसमें कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियों को प्रमुखता दी गई है। कामायनी काव्य में इड़ा के प्रतीक द्वारा जिस संघर्ष प्रधान, कर्मप्रमुख जीवन उपक्रम का प्रदर्शन कराया गया है उसकी पूर्ण स्वीकृति न तो कामायनी में है और न छायावाद काव्य में ही। किन्तु गुप्तजी की ऐकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी सादी भावव्यंजना के कई क़दम आगे वह अवश्य है।

इस छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।

प्रसादजी के साहित्य की दार्शनिक सीमारेखा और भी स्पष्ट हो जाय इस दृष्टि से मैं कामायनी काव्य में आये हुए श्रद्धा और इड़ा के प्रतीकों को नये सिरे से आप के सम्मुख रखना चाहूँगा। कामायनी काव्य में दो पीढ़ियों के चार चरित्र हैं। पहली पीढ़ी मनु और श्रद्धा की है जो काव्य के नायक-नायिका हैं और दूसरी पीढ़ी श्रद्धा-पुत्र और इड़ा की जोड़ी बन कर चलती है। इन दोनों पीढ़ियों में कुछ हद तक खींचतान भी है। मनु को सारस्वत या बौद्ध प्रदेश का पुनरुत्थान करने में लगा कर फिर उसके दुष्परिणामों से उन्हें अभिभूत कर दिया जाता है। प्रसादजी अपने काव्य का अधिनायकत्व श्रद्धात्यागी और इड़ा-सेवी मनु को नहीं देते, वे उसे रास्ते पर लाते हैं। फिर दूसरी पीढ़ी में उनकी सन्तति भी श्रद्धा और बुद्धि के सम्मिलित योग से नवीन जीवन क्रम चलाती है।

धारा से पृथक् हो गये हैं। किन्तु मेरा यह कहना है कि बुद्धि की अति और उसके अवश्यम्भावी विकारो का ही प्रतिषेध प्रसादजी ने किया है और यह उनकी मूल आध्यात्मिक विचारणा के अनुकूल ही है।

वैज्ञानिक सङ्घर्षात्मक प्रवृत्ति दर्शन ही आधुनिक प्रगतिशील साहित्य के मूल मे है। प्रसादजी इस दर्शन के साथ सारी दूरी तक नहीं जाते किन्तु इस कारण कोई उन्हे अप्रगतिशील नही कह सकता। साहित्य मे उन्होने जागृति की मनोरम और प्रगतिमयी भावनाओ का ही विन्यास किया है. उषाकाल की प्रभाती ही गाई है, कल्पना का प्रयोग नवीन शक्ति और नव सौन्दर्य की सृष्टि में ही किया है। मै कह चुका हूँ कि साहित्यिक प्रगति और दार्शनिक प्रगतिवाद दो भिन्न वस्तुएँ है और यह आवश्यक नहीं कि साहित्य किसी विशेष दार्शनिक मतवाद से बँध कर ही प्रगतिशील कहलाये। इतना कहने के पश्चात् यह स्वीकार करने मे हमे कोई आपत्ति नहीं है कि प्रसादजी ने नवीन सङ्घर्ष से उत्पन्न भौतिक विकासवादी दर्शन को सम्पूर्ण स्वीकृति नहीं दी है। संक्षेप मे प्रसादजी की साहित्यिक और दार्शनिक स्थिति यही है।

अब प्रसादजी की शैली, वस्तु-सङ्घटन और कथानिर्माण के पक्ष पर दो शब्द कह कर मैं इस निबन्ध को समाप्त करूँगा। इस सम्बन्ध मे अधिकाश समीक्षको का कथन रहा है कि उनकी शैली जटिल और दुरूह है तथा उनका वस्तुविन्यास शिथिल और बोझीला है। उनके नाट्यसमीक्षक श्रीकृष्णानन्द गुप्त ने इन विषय की विशेष शिकायत की है। कृष्णानन्द जी यदि इब्सन या डी० एल० राय की शैली के प्रभाव से मुक्त हो कर प्रसादजी की नाट्यशैली की स्वतन्त्र परीक्षा करते तो अधिक अच्छा होता। प्रसादजी की भाषा और अभिव्यक्ति में जटिलता उन्हे अधिक दिखी है जिन्हे यह नहीं दीखा कि प्रसादजी किन नवीन समस्याओ के सम्पर्क में थे और किस नवीन विचारणा तथा भावलोक का निर्माण कर रहे थे और इस कार्य मे उनकी कठिनाइयाँ कितनी थी। फिर क्रमविकास की दृष्टि से भी उन्होने प्रसादजी की परीक्षा नहीं की। क्रमश. प्रसादजी भाषा के सारल्य और भावों के नैसर्गिक निर्माण और उत्कर्ष की ओर बढ़ते गये हैं, यह भी उन्हे देखना चाहिए। कथानक के कलात्मक निर्माण के सम्बन्ध मे हम इतना ही कहेगे कि प्रसादजी अपने समसामयिक हिन्दी रचनाकारो के समकक्ष है। यदि उनमे बहुत बड़ी 'एनजीनियरिङ्ग' करामात हमें नहीं मिलती तो हम स्मरण रक्खेगे कि वे किन नवीन प्रयासो में व्यस्त थे। और हमें यह भी नहीं भूलना होगा कि प्रसादजी नई कला-प्रणाली की अपेक्षा नई भावना और नई चिन्तना के निर्माण-

श्री० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

यदि सामयिक हिन्दी मे कोई ऐसा विषय है जो अन्य सब विषयो की अपेक्षा अधिक विलष्ट और दुरूह समझा जा सके तो वह प० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का विकास है। इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण मे ऐसे परमाणुओ का सन्निवेश हुआ है जिनका विश्लेषण हिन्दी की वर्तमान धारणाभूमि में विशेष कठिन किया है। हिन्दीभाषी जनता के साहित्यिक ज्योतिषियो ने, कहानीवाले सात अन्धे भाइयो की भाँति, भाँति-भाँति से हाथी की हास्य-विस्मय-भरी रूपरेखाएँ बखान की, जिनसे 'निराला' जी की अपेक्षा समीक्षकों की निराली सामुद्रिक का ही परिचय मिला। जहाँ तक हमारी जानकारी और अध्ययन है हम निरालाजी के विकास के मूल मे भावना की अपेक्षा बुद्धितत्व की प्रमुखता पाते है। यह उनके दार्शनिक अध्ययन का परिणाम है या उनके मानसिक सङ्गठन का नैसर्गिक स्वरूप, यह हम नही कह सकते। बाबू जयशङ्कर प्रसाद की कविता में भी यह बौद्धिक विशेषता पाई जाती है, परन्तु 'निराला' जी के साहित्य मे तो यह स्पष्टत. एक बड़ी मात्रा मे है। प्रसादजी की जिन जिज्ञासाओ का उल्लेख हम 'चित्राधार', 'प्रेम-पथिक' आदि की समीक्षा के प्रसङ्ग मे कर चुके है उनमें केवल बुद्धि धर्म ही नही, कल्पना आदि भी उपस्थित हैं, पर 'निराला' जी की अनेक कविताओ मे केवल बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ मिलता है। 'निराला' जी की कुछ रचनाओ मे तो सम्पूर्ण वर्णन और वातावरण ऐसा है जो परिपाटीबद्ध काव्यालोचक की आस्वादसीमा के बाहर है। यह आलोचक की त्रुटि है, या निरालाजी की वे रचनाएँ साहित्य की परिभाषा में ही नहीं आती, यह निर्णय कौन करेगा ?

यदि हमे निर्णय करना हो तो हम साहित्य-कला का विस्तार कदापि संकुचित करने को सहमत न होगे। काव्य में बुद्धितत्व के लिए भी स्थान है, भावना के लिए भी, कल्पना के लिए भी। जिस किसी कृति में ओजस्विता हो, प्रवाह हो; जिसका प्रभाव हम पर पड़े उसमे काव्य की प्रतिष्ठा मानी ही जायगी। यदि रस सिद्धान्त के व्याख्याताओ में आज इतनी व्यापकता नहीं है तो उन्हे व्यापक बनना होगा। आधुनिक युग प्रत्येक दिशा मे नई काव्यसामग्री का संग्रह करने को कटिबद्ध है। 'निराला' जी का एक अत्यन्त बुद्धिविशिष्ट वाक्यचित्र देखा जाय :—

लिये जा रहे है। नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमे यह सम्भव नहीं कि वह परम्परा-प्राप्त ध्वन्यात्मकता का ही अनुसरण करता चले। प्रचलित प्रणाली को तोड़ने मे, नवीन युग का सन्देश सुनाने में काव्य अपनी क्रम-प्राप्त मर्यादाओं को भी उखाड़ फेकता है। यह ध्वनि और अभिधा काव्यवस्तु के भेद नहीं हैं केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद हैं। हमे प्रत्येक प्रणाली को प्रश्रय देना चाहिए, न कि किसी एक को। अभिधा की प्रणाली इस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है। जहाँ तक हम समझ सके हैं व्यजना की प्रणाली मे यदि कुछ विशेषता है तो यही कि उसमें काव्य को मूर्त्त आधार अधिक प्राप्त होता है। व्यजना का अर्थ ही है सङ्केत, प्रतीक आदि। परन्तु अभिधा में स्पष्टता अधिक है। व्यंजना के आतिशय्य से काव्यचातुरी बढती है, जो प्रत्येक अवसर पर अभीष्ट नहीं कही जा सकती और सब से बड़ी बात तो यह है कि ये अभिव्यक्ति की प्रणालियाँ मात्र है जो काव्यवस्तु को देखते हुए छोटी चीज़ है। 'निराला' जी ने अपनी बुद्धिविशिष्ट रचनाओं को अभिधा-शैली में और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है। काव्य के मूल्याङ्कन मे हम अभिव्यक्ति की शैली को ही सब कुछ नहीं मान सकते। विशेषतः एक विद्रोही कवि जब नवीन प्रवाह को काव्य में प्रसरित करता है, वह अभिव्यक्ति की प्रणाली का गुलाम होकर नहीं रह सकता। निराला ही नहीं, 'प्रसाद' सरीखे साहित्य-शास्त्र के अध्येता भी रचनात्मक साहित्य मे बराबर नियमभङ्ग करते रहे है। यह अनिवार्य है और साहित्यिक विकास के लिए उपयोगी भी है।

मुक्त छन्द मे निरालाजी ने जहाँ एक ओर 'जूही की कली' जैसी कोमल कल्पना विशिष्ट रचना दी है वहीं 'जागो फिर एक बार' जैसे उदात्त वीर-रस का काव्य भी दिया है। इतना हम अवश्य कहेंगे कि उनके मुक्त काव्य मे स्वच्छन्द कल्पना का अति स्वाभाविक प्रवाह है। काव्य का चिर दिन से चले आते हुए छन्द-बन्ध से छूटना हिन्दी में एक स्मरणीय घटना है। इस श्रेय के अधिकारी निरालाजी ही है।

ऐतिहासिक प्रसग को भी हमें भूलना नहीं चाहिए। जिस समय निरालाजी के स्वच्छन्द छन्द का विकास हुआ उसके पहले प० सुमित्रानन्दन पन्त की कोमल रचनाएँ हिन्दी-जनता का आकर्षण प्राप्त कर रही थी। 'प्रसाद' जी का 'आँसू' तब तक प्रकाशित नहीं हुआ था। गुप्तजी माइकेल मधुसूदन का अनुवाद कर रहे थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल अपनी रसात्मक प्रणाली से तुलसी, जायसी आदि का काव्य-सौष्ठव परख रहे थे। हिन्दी में सत्काव्य की अनुभूति का समय आ रहा था। वह हिन्दी के नवीन विकास की

इस द्वितीय चरण में जहाँ कहीं निरालाजी बुद्धि और भावना का रमणीय योग करने में समर्थ हुए हैं, कविताएँ विशेष उज्ज्वल और निखरी हुई हैं। अनेक छोटी रचनाओं में ही नहीं 'यमुना', 'स्मृति', 'वासन्ती', 'वसन्त समीर', 'बादलराग' आदि लम्बी कृतियों मे भी यह सुयोग सफलतापूर्वक सिद्ध हुआ है। इनमें बुद्धितत्व भावना के साथ सन्निविष्ट होकर, अधिकाश मे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व छोड़कर, मिल गया है जिससे तल्लीन वातावरण बनकर काव्य वैभव का विशेष विकास हो सका है।

द्वितीय चरण के उपरान्त निरालाजी का तृतीय चरण गीत-रचना का है। गीतों मे कुछ तो दार्शनिक है, पर अधिकाश प्रेम और शृङ्गार विषयक हैं। इनमें मधुर भावों की व्यञ्जना हुई है। विराट बौद्धिक चित्रो के स्थान पर उज्ज्वल रम्य आकृतिया अधिक हैं। यह परिवर्तन 'निराला' जी द्वारा बुद्धितत्व के कलात्मक परिपाक की दिशा मे एक सीढ़ी और आगे है। जहा 'परिमल' की अनेक कविताओं में बुद्धिजन्य प्रक्रिया काव्य के साथ दूध-मिश्री के-से मिश्रण मे नहीं मिल सकी वहाँ गीतों मे ऐसा प्रायः सर्वत्र हुआ है। किन्तु साथ ही 'परिमल' की स्वच्छन्द काव्य प्रसृति की अपेक्षा इन गीतों मे आलकारिक बधन अधिक हैं।

निरालाजी का वास्तविक उत्कर्ष अपने युग की भावना और कल्पनामूलक काव्य मे सचेत बुद्धितत्व का प्रवेश है। इससे काव्य-कला का बड़ा हित-साधन हुआ। कविता के कलापक्ष की उपेक्षा सीमा पार कर रही है और कोरे भावनात्मक उद्गार काव्य के नाम पर खप रहे थे। निरालाजी ने इस विषय में नया दिग्दर्शन कराया। आधुनिक कवियों में इस विशेषता को लिए हुए निरालाजी क्षेत्र मे एक ही है। इस दिशा मे काम करते हुए उन्होंने पहले पहल मुक्त-छंद की सृष्टि की जो उक्त उद्देश के विशेष अनुकूल सिद्ध हुआ। मुक्त-छन्द के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी पद-विन्यास को भी अधिक प्रौढ तथा अधिक प्रशस्त बनाने का सफल प्रयास किया। अत्यंत सार्थक शब्दसृष्टि द्वारा निरालाजी ने हिन्दी को अभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की है। सगीतज्ञ होने के कारण शब्द-सगीत परखने और व्यवहार में लाने में वे आधुनिक हिन्दी के दिशा-नायक हैं। अनुप्रास के वे आचार्य हैं।

निरालाजी के काव्य मे करुणा की अथवा शृङ्गार की दुर्बल भावनामूलक अभिव्यक्ति हमे नहीं मिलती। वे एक सचेत कलाकार हैं इसलिए उनके काव्य में असयम और अति कहीं नहीं है। उनमें एक अनोखी तटस्थता है जो उन्हें काव्य की भावधारा के ऊपर अपना व्यक्तित्व स्थिर रखने की क्षमता प्रदान करती है।

कोण के होते भी निरालाजी की रचना मे साम्प्रदायिकता नहीं है, वह शुद्ध काव्य परिच्छद में व्यक्त हुई है। निरालाजी का विकास तो इसी दिशा में हुआ है। यदि केवल एक वाक्य मे निरालाजी के काव्य की व्याख्या करनी हो तो इस तरह हम कहेंगे कि निरालाजी हिन्दी काव्य के प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार है।

कविताओं के भीतर से जितना प्रसन्न अथच अस्खलित व्यक्तित्व 'निराला' जी का है उतना न 'प्रसाद'जी का है न पतजी का। यह निरालाजी की समुन्नत काव्य-साधना का प्रमाण है। निरालाजी के 'कवि' मे जड़त्व का अकुश कही नहीं मिलता जब कि 'प्रसादजी' की भावनाएँ कहीं-कहीं साधारण तल तक पहुँच गई है और पतजी का शृङ्गार यत्र-तत्र ऐन्द्रियता की दशा तक पहुँच गया है और उनकी कविता यदा-कदा 'अपनी तारीफ' तक करने लगी है। निरालाजी की 'यमुना' की तुलना यदि पंतजी की 'उच्छ्वास', 'आँसू' अथवा 'ग्रन्थि' से की जाय—इन सब मे विषय-साम्य है—तो निरालाजी का निर्लेप व्यक्तित्व देखकर मुग्ध होना पड़ता है। पंतजी के व्यक्तित्व में इतना परिष्कार नहीं है। यहाँ हम वर्णित विषय की नहीं, वर्णित विषय के भीतर से रचयिता के व्यक्तित्व की बात कह रहे हैं। अवश्य ही निरालाजी के दर्शन का यह चमत्कार विशेष रीति से उल्लेखनीय है। निरालाजी का शृङ्गार सर्वत्र संयमित है। काव्य में प्रत्येक प्रकार का शृङ्गार-वर्णन करते हुए भी निरालाजी का व्यक्तित्व कहीं भी शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त नहीं देख पड़ता। आधुनिक हिन्दी के किसी भी कवि के संबध मे यही बात नहीं कही जा सकती। यह हिन्दी के लिए बहुत बड़ी विशेषता है।

× × ×

ये पंक्तियाँ समाप्त करते-करते हमे निरालाजी का यह पत्र प्राप्त हुआ है जिसका उद्धरण अप्रासंगिक न होगा'—

'प्रिय वाजपेयी जी,

आज आप की 'निराला' आलोचना पढ़ी। विचारों के लिए तो मैं कुछ कह ही नहीं सकता। कारण, वे आपके है, पर इतिहास के लिए अवश्य कहूँगा कि सुमित्रा-नन्दन जी को प्यार करने के आठ महीने पहले मैं हिन्दी जनता की आँख की किरकिरी हो चुका था। उनको अच्छी तरह लोगो ने तभी जाना जब "मौन-निमन्त्रण" ने शायद १६२४ की 'सरस्वती' के फरवरी वाले अङ्क से लगातार उनकी रचनाएँ निकलने लगीं। मैं आठ महीने और पहिले से 'मतवाला' के मुखपृष्ठ पर आ रहा था; जिसका आप ने उद्धरण दिया है—"छूटता है यद्यपि अधिवास" और बाद की रचना कह कर

'गीतिका'

श्रीयुत निरालाजी नवीन कविता-कामिनी के रत्नहार के एक अनुपम रत्न हैं, यह हिन्दी के काव्य-परीक्षकों की परीक्षा का निष्कर्ष समय की गति के साथ अधिकाधिक लोक-प्रचलित हो रहा है। आज से कुछ वर्ष पहले जब मैंने 'भारत' के लेखों में उनके उच्च पद का निर्देश किया था, तब बहुत से व्यक्तियों ने इस सम्बन्ध में अपनी शङ्काएँ प्रकट की थीं और कुछ ने उसे मेरा पक्षपात समझकर उस समय तरह दे दिया था, पर पीछे प्रकारान्तर से वे उन्हीं स्वरों का आलाप करते हुए सुन पड़े थे, जो हृदय में दबी अभिलाषा के असामयिक प्रकाशन से उद्‌भूत होते हैं। उनमें से किसी में अनुचित अस्पष्टता, किसी में लज्जाहीन आत्म-प्रशंसा और किसी में निरालाजी के प्रति व्यर्थ की कुत्सा तथा मेरे प्रति आक्षेप भरे हुए थे, किन्तु प्रसन्नता की बात है कि कवि की प्रतिभा के प्रति मेरा आरम्भिक विश्वास कभी स्खलित नहीं हुआ, न कभी मुझे उसकी कृतियों के कारण हिन्दी के सम्मुख सङ्कुचित होना पड़ा। साथ ही मुझे उन महानुभावों का हार्दिक दुःख है जो साहित्य के क्षेत्र में ऐसी कुटिल नीतियों का आश्रय लेते और सात्विक बुद्धिसम्पन्न वाणी-व्यापार का बहिष्कार करते हैं। क्या कारण है कि लोग ज्ञान और प्रकाश की इस भूमि में भी अपने हृदय का अन्धकार भरना चाहते हैं ? काव्य-साहित्य की इन साफ-सुथरी पगडण्डियों में सौन्दर्य ही जिनकी रूप-रेखा है, कुटिल कण्टकों के लिए स्थान ही कहाँ है ? हमारी परिष्कृत दृष्टि यदि इन चिर-सुरम्य निकेतों में भी मलिनता का प्रवेश-निषेध नहीं कर सकती तो हमारे युग की साहित्यिक साधना अपूर्ण और हमारी जीवन-धारा त्रुटिपूर्ण ही समझी जायगी।

शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि से उद्भावित समीक्षा, वह चाहे जिसकी लिखी हो, मुझे प्रिय है, यद्यपि मैं जानता हूँ कि वह सबकी लिखी नहीं हो सकती। वह परिष्कृत स्वस्थ और पुष्ट मस्तिष्क की ही उपज हो सकती है—उसकी जिसने जीवन-तत्व का अनुसन्धान किया है। वह दृष्टि शब्दों पर, वाक्यों पर, कल्पनाओं और उपमाओं पर रीझती है, परन्तु पृथक्-पृथक् नहीं। उक्त जीवन-तत्व की परख, उनकी ही समुज्ज्वल, आह्लादिनी अभिव्यक्तियों पर मुग्ध होती है। काव्य के इन समस्त उपकरणों का यही प्रयोजन है कि वे उक्त जीवन-सौन्दर्य की कला हमारे हृदयों में खिला दें। यदि वे ऐसा करने में अक्षम हैं, तो उनकी सम्पूर्ण सुन्दरता और विन्यास व्यर्थ हैं। कहना तो यह चाहिए कि उनकी सुन्दरता और उनका विन्यास तभी है जब वे उस जीवन-सौन्दर्य में डोल

लक्ष्य नहीं है, परन्तु उनका एक व्यक्तित्व जिसमें व्यापक जीवन-धारा के सौन्दर्य का सन्निवेश है, जिसमें ओज के साथ (जो इस युग की मौलिक सृष्टि का परिचायक है) एक सुकोमल सौहार्द (जो सहानुभूति का परिचायक है) का समाहार है, उनके काव्य में सुस्पष्ट है। इन उभय उपकरणों के साथ (जो एक साथ अत्यन्त विरल है) कवि की दार्शनिक अभिरुचि कविता की श्रीसम्पन्नता में पूर्ण योग देती है। गेय पदों की शाब्दिक सुघरता, संक्षेप में विस्तृत आशय की अभिव्यक्ति, सुन्दर परिसमाप्ति और प्रकाश निरालाजी के काव्य को दर्शन द्वारा उपलब्ध हुए हैं। और मैं यह कह चुका हूँ कि सौन्दर्य की प्रतिमाएँ निरालाजी ने व्यक्तिगत जीवनानुभव से संघटित की है।

निरालाजी में पूर्ण मानवोचित सहृदयता और तन्मयता के साथ उच्च कोटि का दार्शनिक अनुबन्ध है। अतएव उनके गीत भी मानव-जीवन के प्रवाह से निखरे हुए, फिर प्रकाश से चमकते हुए है। उनमें क्लिष्ट कल्पनाओं और उड़ानों का अभाव है; किन्तु यही उनकी विशेषता है। उन्हें हमारे एकाध नवयुग-प्रवर्तक की भाँति समय-समय पर पट-परिवर्तन कर कई बार जीवन में मरण देखने की नौबत नहीं आई। वे आरम्भ से ही एकरस है और सम्भवतः अन्त तक रहेंगे। यही उनकी नैसर्गिकता है, यही मानवोचित विशिष्टता है। सम्भव है, कविता में कल्पना के इन्द्रजाल देखने की अधिक कामना रखने वालों को इन गीतों से अधिक सन्तोष न हो, किन्तु उनमें जो गुण है, कला की जो भंगिमाएँ, प्रकाश-रेखाओं की जैसी सूक्ष्म अथच मनोरम गतियाँ है वे इन्ही में है और हिन्दी में ये विशेषताएँ कम उपलब्ध होती है। इन गीतों में असाधारण जीवन-परिस्थितियों और भावनाओं का अधिक प्रत्यक्षीकरण नहीं है, इसका आशय यही है कि इनमें जीवन के किसी एक अंश का अतिरेक नहीं है। इनमें व्यापक जीवन का प्रसर प्रवाह और संयम है। गति के साथ आनन्द और विवेक के साथ भी आनन्द मिला हुआ है। दोनों के संयोग से बना हुआ यह गीति-काव्य विशेष स्वस्थ सृष्टि है।

परन्तु इस विश्लेषण का यह अर्थ नहीं है कि निरालाजी रहस्यवादी कवि नहीं है। रहस्यवाद तो इस युग की प्रमुख चिन्ताधारा है। परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूति से उनके गीत सज्जित हैं। रहस्य की कलात्मक अभिव्यक्ति की जो बहुविध चेष्टाएँ आधुनिक हिन्दी में की गई हैं उनमें निरालाजी की कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ कवियों ने तो रहस्यपूर्ण कल्पनाएँ ही की हैं; किन्तु निरालाजी के काव्य का मेरुदण्ड ही रहस्यवाद है। उनके अधिकांश पदों में मानवीय जीवन के ही चित्र हैं सही; किन्तु वे सब-के-सब रहस्यानुभूति से अनुरञ्जित हैं। जैसे सूरदास जी के पद अधिकांश श्रीकृष्ण की लोक लीला से सम्बद्ध होते हुए भी अध्यात्म की ध्वनि से आपूरित हैं, वैसे ही

निरालाजी की आख्यायिकाएँ और उपन्यास

सखी' निरालाजी की छोटी कहानियों का दूसरा संग्रह है। इसके पूर्व 'अप्सरा' और 'अलका' ये दो उपन्यास और 'लिली' उनकी आख्यायिका पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। इनके अतिरिक्त निरालाजी की नई रचना 'प्रभावती (उपन्यास) जो प्रेस मे है, मैंने देखी है। ये पाँचों नाम स्त्रीवाची हैं। पुस्तकों मे प्रमुखता भी स्त्री-चित्रण की ही है। वर्तमान युग के नारी-जागरण की कर्कश भावनाओं को छोड़कर निरालाजी ने विकास मूलक मनोरम अंशों को अपनाया और इन पुस्तकों मे स्थान दिया है। स्त्री-स्वातन्त्र्य का अर्थ जहाँ तक शिक्षा, संस्कृति तथा सामाजिक व्यवहार की स्वच्छन्दता है, निरालाजी उसके अनन्य प्रेमी हैं। परन्तु जब वह स्वातन्त्र्य फिरकापरस्ती का रूप धारण करता है, पुरुष से भिन्न आर्थिक स्थिति और घर के भीतर दो दीवाले बनवाने का आग्रह करता है, जब स्त्री, पुरुष की स्पर्द्धा में, साथ साथ लीक पर चलना अस्वीकार कर देती है, जब कट्टर धर्मध्वजियो की भाँति एक पूर्व और एक पश्चिम की ओर मुख कर ईश्वरोपासना करने मे ही चरम सिद्धि मानते हैं और इसमें कुछ भी विक्षेप पड़ने पर एक-दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन जाते हैं: निरालाजी उन स्थितियो के रचनाकार नहीं हैं। उन स्थितियों मे प्राणों की विह्वल सत्ता रहती है, यद्यपि वास्तविकता वहां भी है, परन्तु निरालाजी जैसे भावनावान कवि के लिए नहीं; वह तो विक्टर ह्यूगो जैसे क्रान्ति उपासक या बर्नार्ड-शा जैसे प्रकाण्ड बुद्धिवादी के लिए ही वरण्य विषय बन सकती है। वे ही उसका समाधान कर सकते हैं, दूसरे नहीं। भारतवर्ष मे व्यास इस कोटि के कवि हो गये हैं जिन्हें हम वास्तविक क्रान्त-दर्शन कह सकते हैं। यूरोप के सभी क्रान्ति-प्रेमी कवि मिलकर व्यास के चरणों के नीचे शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं किन्तु व्यास ने यह समस्त यथार्थ, अध्यात्म में पर्यवसित कर दिया है। अस्तु, यह तो और बात हुई। निरालाजी के उपन्यास और कहानियां मधुल रचनाएँ हैं जिनमे नारी का प्रेम-पूर्ण, शिक्षित और संस्कृत व्यक्तित्व दिखाने की चेष्टा मुख्य रूप से की गई है। अन्य विषय आनुषगिक हैं, नारी सुलभ प्रेम ही प्रधान है। प्रेम की आध्यात्मिकता का यह अर्थ नहीं कि उसका कोई व्यक्त मानसिक रूप ही न हो, किन्तु जिस प्रकार 'कादम्बरी' मे बाण ने शुद्ध प्रेम का ही एक मात्र व्यजन किया है उसी प्रकार निरालाजी ने भी।

कवि ने अपनी विद्या, बुद्धि और अपनी संस्कृति से ही नायिकाएँ संघटित की हैं, उन्हें दृश्य जगत् के कोई उपकरण प्राप्त नहीं। घटनाएँ हैं परन्तु वे पात्रों का शासन नहीं करतीं—पात्रों को प्रकाश में लाती हैं। ये नायक-नायिकाएँ जिन परिस्थितियों में

समझना कि किसी विशेष समय या समाज में कादम्बरी या महाश्वेता दैनिक जीवन की प्रतिनिधि थीं, भावनामात्र है। वास्तविकता यह है कि सभी समयों और समाजों में, कभी कुछ कम, कभी अधिक, रचनाकार अपनी संस्कृति के अनुरूप ऐसी रचनाएँ करते हैं और साहित्य में उनका सम्मान भी होता है। बदलते हुए समय के चक्र में पड़ कर वे ही रचनाएँ लुप्त हो सकती हैं जिनमें आत्मा की सत्ता नहीं, रहस्यमय जीवन-विकास के परमाणु नहीं। हम साहित्यिकों का एकमात्र अवलम्ब यही है कि यद्यपि हम एक परिमित समय के घेरे में आबद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु हमारी वाणी ऐसे किसी प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करती जो उसे काल पाकर विनष्ट कर सके। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक लेखक और कवि अपनी अमरता का दम भरता फिरे, अथवा प्रत्येक छपी हुई पंक्ति शाश्वत जीवन की सृष्टि समझ ली जाय। दम भरना और अमरता दो भिन्न वस्तुएँ हैं। एक हमारी नश्वर मनुष्यता की क्षीण ध्वनि है, दूसरी वह चिर-नवीन चिर-जीवनमय शुभ्र वस्तु है जो कहने-सुनने या विश्वास दिलाने से सिद्ध नहीं होती। वह तो आपही सिद्ध होती है। प्रत्येक रचना उसी एकमात्र प्राणात्मक सत्ता से संलग्न होकर, एकाकार होकर स्थायित्व प्राप्त करती है। मनुष्यों के बुद्धि-विभ्रम से किसी समय कुछ उत्कृष्ट वस्तुएँ यथार्थ दृष्टि से नहीं देखी जातीं, किन्तु इस कारण उन वस्तुओं की हीनता नहीं सिद्ध होती। अनुकूल समय पाकर वे पुनः प्रकाश में आती हैं और बदले में मनुष्यों के हृदय प्रकाश से भर देती हैं। इसलिए साहित्यिक रचना की समीक्षा का आदर्श यह नहीं होना चाहिए कि वह वस्तु किस व्यक्ति विशेष या लक्ष्य-विशेष से लिखी गई है, न यही कि हमें वे अच्छी लगती हैं या नहीं। एक मात्र आदर्श उक्त रचना में निहित प्राणों के स्वरूप का निर्देश करना—उसी की समीक्षा करना होना चाहिए। अतः प्रत्येक रचना का व्यक्तित्व, उसकी निजता, उसकी प्रमुख आकृति, उस का तारतम्य समझ लेने के पश्चात् ही उसकी आलोचना की जानी चाहिए। जब बच्चे भी इसका ज्ञान रखते हैं कि यह आग है और यह पानी है और दोनों की यथार्थता जानते हैं तब साहित्य के समीक्षक इस आरम्भिक वस्तुविज्ञान से वञ्चित हों, यह आश्चर्य-जनक है। अभी अधिक दिन नहीं हुए, इङ्गलैंड में स्टिवेन्सन प्रसिद्ध रोमान्सवादी रचयिता हो गया है। उसकी भावना-प्रधान कृतियों का वहाँ यथेष्ट सम्मान है। निगलानी के उपन्यासों और कहानियों का अध्ययन और विवेचन करते समय भावना की उसी कोमल भूमि में उतरना होगा जिस पर स्थिर होकर वे प्रणीत हुए हैं। अन्यथा समीक्षा अपने गर्व से ही वञ्चित रहेगी।

है। वह अनेक बार दिव्य ज्योति दिखाती, यदा-कदा विद्युत्-चकाचौंध उत्पन्न करती पर गड्ढे मे प्रायः कभी नही गिराती।

कल्पना की इस 'आलिम्पिक' प्रतियोगिता मे पन्तजी ने अपने लिए प्रेम और सौन्दर्य के 'हीट्स' चुन लिये है और शृङ्गारवर्णन का उनका 'रेस' विशेष चमत्कार-पूर्ण हुआ है। पन्तजी की यही रुचि-दिशा है। उनकी रुचि कोमल अथच मार्जित है। उसे हम नागरिक रुचि भी कह सकते है और इस विशेषण से उनके वर्णित विषय पर ही नही उनके शब्द-सगीत, छन्द-चयन और भाषा-शैली पर भी प्रकाश पड़ जाता है। उनकी कल्पना के साथ उनकी यह रुचि मिल कर उनकी कविता को रमणीय अथच आकर्षक वेश-भूषा से सज्जित करती—यह साज सज्जा आधुनिक हिन्दी मे और कहीं नहीं देख पड़ती। पन्तजी की इस रुचि से हिन्दी खड़ी बोली को ईप्सित फल प्राप्त हुए हैं—सरस, सार्थक शब्दसृष्टि, सुगेय छन्द और सुन्दर प्रशस्त भाषा। शब्द-साधना मे पन्तजी ने सस्कृत की सहायता ली है यद्यपि शब्द प्रतिमाएँ अंग्रेजी कला कौशल से खड़ी की गई हैं। भाषा, छन्द और शब्दालकरण का महत्व समीक्षकगण यह कह कर अपहरण कर लेते है कि उनसे भावतन्मयता को क्षति पहुँचती है, और इस प्रकार वहिरग को सजाकर अन्तरग रुग्ण ही बना रहने दिया जाता है, पर ऐसे आरोपों पर हमे ध्यान नहीं देना चाहिए। काव्य में वहिरग और अन्तरंग का ऐसा कहीं भेद नही है। सार्थक, सुप्रयुक्त शब्द, यथायोग्य छन्द—ये सब भावो के अभिन्न अग है। वाह्य और अन्तरग यहाँ कुछ नही। भावो को स्वरूप देने वाले शब्द ही काव्य मे सब कुछ है, अन्यथा भावो की सत्ता ही कहा रहती? 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' को काव्य कहते हुए सस्कृत आचार्य ने इसी तत्व को प्रकट किया था जिसे हम आज वहिरग और अन्तरग के भ्रम में भुलाना चाहते है। पन्तजी ने अपने समय की खडी बोली को सस्कृत की शब्दयष्टि देकर दृढ किया, हिन्दी के अनुरूप अनेक प्रयोग आविष्कृत किये और भाषा मे एक नई ही छटा छा दी। उन्होंने खडी बोली को भावाभि-व्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की। यहाँ इस उल्लेख का आशय यही है कि समीक्षक गण भाषा और भावो का चाहे जो सम्बन्ध स्थापित करे, परन्तु पन्तजी ने अपनी खड़ी बोली को स्वस्थ स्वरूप देकर उसे भाव प्रसृति के अधिक उपयुक्त बनाया और उनके इस प्रयास में भाषा और भाव अलग-अलग नहीं—बाह्य और अन्तरङ्ग नहीं—वरन् काव्य का सर्वाङ्गीण विकास करते देख पड़ते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि खड़ी बोली को उस समय अपने अवयव-सङ्घटन की परम आवश्यकता थी, अन्यथा स्वस्थ

How could a few vain words from a book rise like a mist and veil
Her whose voice has hushed the voice of earth into ineffable calm ?"

—रवीन्द्रनाथ

... ...

"Suspended in the solitary dome
Of some mysterious and deserted fane
I wait thy breath, Great Parent, that my strain
May modulate with murmurs of the air,
And motions of the forest and the sea,
And voice of living beings and woven hymns
Of night and day, and the deep heart of man"

—शेली

"Let thy love play upon my voice and rest on my silence;
Let it pass through my heart into all my movements
Let me carry thy love in my life as a harp does its music and
Give it back to thee at last with my life."

—रवीन्द्रनाथ

सजनि श्याम की वंशी ही से
कर दे मेरे सरस वचन
जैसा जैसा मुझको छेड़ें
बोलूँ अधिक मधुर मोहन
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मन्त्र-मुग्ध नतफन
रोम-रोम के छिद्रों से मा
फूटे तेरा राग गहन

—पन्तजी

आध्यात्मिक वाद की अपेक्षा निराश रोदन की ही प्रमुखता सिद्ध होगी। इससे कहीं अधिक सरल, पंतजी की 'बालापन' कविता 'उच्छ्वास', 'आँसू' आदि से दो वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी—

'अहो कल्पनामय फिर रच दो वह मेरा निर्भय अज्ञान।
मेरे अधरों पर वह मा के दूध से धुली मृदु-मुस्कान॥
मेरा चिन्तारहित अनलसित वारि बिम्ब-सा विमल हृदय।
इन्द्र चाप-सा वह बचपन के मृदुल अनुभवों का समुदय॥
इत्यादि, इत्यादि।

इस 'बालापन' कविता के सामने 'उच्छ्वास' का 'बालिका-विरह' आदि हमें प्रभावित नहीं करते। यदि दूसरे निष्कर्ष के अनुसार देखें तो 'उच्छ्वास' की बालिका' यौवनागम के द्वार पर खड़ी अपने प्रिय के परिणयपाश मे बँधने से वंचित, अवश्य ही करुण है, और उसके निराश प्रेमी के 'आंसू' भी अवसरजन्य ही हैं, परन्तु यह नव वर्णन—सम्भवतः पंतजी के उस समय के संकोच के कारण—स्पष्टता नहीं प्राप्त कर सका। यदि प्राप्त भी कर पाता तो कविता किसी उच्च धरातल पर न पहुँच पाती क्योंकि 'उच्छ्वास' और 'आँसू' मे पंतजी की कल्पना कहीं भी ऊँची उड़ान नहीं भरती, व्यक्तिगत आकांक्षा और रुदन तक सीमित रहती है।

'उच्छ्वास' और 'आँसू' के पढ़ने पर एक तीसरी धारणा यह भी उत्पन्न होती है कि इनमें कवि 'प्रेम' का मुक्त निर्बन्ध रूप दिखा रहा है। यह धारणा इन पंक्तियों से और भी दृढ़ होती है—

देखता हूँ जब उपवन पियालों मे फूलों के।
प्रिये! भर-भर अपना यौवन, पिलाता है मधुकर को॥
नवोढ़ा-बाल-लहर, अचानक उपकूलों के।
प्रसूनों के ढिग रुक कर, सरकती है सत्वर॥
अकेली आकुलता-सी प्राण! कहीं तब करती मृदु आघात!
सिहर उठता कृश गात ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

प्रकृति के इस निर्बंध मिलन को ही 'प्यार' समझ कर, कवि 'उच्छ्वास' की 'बालिका' के प्रसंग में उसका अभाव देखकर कहता है—

है सभी तो ओर दुर्बलता यही समझता कोई नहीं क्या सार है!
निरपराधों के लिए भी तो अहा! हो गया संसार कारागार है!!

में एक निराशा ही फैली हुई मिलती है। 'गुञ्जन' मे, इसके विपरीत, कवि अधिक आस्तिक बनने की संभावना प्रकट करता है। १६३१-३२ की प्रायः सभी रचनाएँ सयोग-पक्ष की हैं जिनमें पतजी की कल्पना अपना चमत्कार दिखा रही है। 'भावी पत्नी के प्रति', 'मधुवन' आदि लबी रचनाओ से भी अधिक छोटे-छोटे गीतों में वह प्रदर्शित हुई है, जैसे ' लाई हूँ फूलों का हार, लोगी मोल लोगी मोल ?", "मैं पलकन पग चूमूँ पिया के" आदि। हिन्दी के शृङ्गारी कवि विरह-वर्णन के कारण अधिक लाछित नहीं किये गये, पर जब वे सयोगवर्णन करने में सन्नद्ध हुए तब उनमें से अधिकाश ने कल्पना को ताख पर रख कर अत्यन्त स्थूल, फोटोग्राफ खींचना आरभ किया। विरह-वर्णन करने में उन कवियो ने जहाँ कल्पना के आकाश-पाताल एककर ऊहा की विपथगति दिखा दी वहाँ सयोग-शृगार के प्रसग में संभोग की ही कथा कहने लगे। एक तरफ कल्पना का इन्द्रजाल, दूसरी तरफ कल्पना छूमतर। यह विशृङ्खलता शृङ्गारी कवियों के विकास में घातक सिद्ध हुई। पंतजी भी इस युग के शृङ्गारी कवि है, इनके विकास मे भी कल्पना ही प्रमुख बनकर उपस्थित हुई है। पतजी, वियोग-वर्णन मे कल्पना का पल्ला भावातिरेक के समय कहीं-कहीं छोड़ भी देते है, पर सयोवर्णन मे वे प्रायः कभी ऐसा नहीं करते। मध्य-काल के शृङ्गारी कवियो के विकास से पतजी के विकास में यही मुख्य अन्तर है। उनका सयोग-पक्ष सर्वत्र कल्पना प्रसूत होने के कारण अधिक सयमित, शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है। पन्तजी की इन आस्तिक रचनाओ की मधुरिमा विकास पाकर स्थान-स्थान पर व्यापक आध्यात्मिक भावजगत तक पहुँच गई है। वियोग की कल्पना-अनुभूति जिस प्रकार 'परिवर्तन' में, उसी प्रकार संयोग की कल्पना अनुभूति अनेक लघुदीर्घ रचनाओं मे व्यापक सौन्दर्य की सृष्टि करती है—

आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील,
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल,
सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण।

... ...

आज वन मे पिक, पिक में गान विटप में कलि, कलि मे सुविकास,
कुसुम मे रज, रज मे मधु प्राण ! सलिल मे लहर, लहर में लास

... ...

'निराला' जी ही हैं। परन्तु बलशाली कल्पना-शक्ति के कारण पन्तजी निरालाजी की अपेक्षा उपमा का अधिक आकर्षण विकीर्ण कर सके हैं।

पन्तजी के संयोग-शृङ्गार की एक शाखा जहां 'अप्सरी', 'एकतारा' आदि के रूप मे फूट निकली है, वहाँ दूसरी शाखा उनके प्रकृति-प्रेम की रचनाओं के रूप मे देख पड़ती है। प्रकृति का चैतन्य चित्र तो आधुनिक हिंदी के कतिपय कवियो की अनुभूति मे आया है पर उन्होंने उसे केवल मानुषीय अनुभूतियो का आनुषंगिक बना रखा है। विराट प्रकृति भी विराट मनुष्यता के सामने छोटी बना दी गई है। यह प्रकृति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण सजीव भावना नहीं कही जा सकती। उसे उसके ही क्षेत्र में—उसके अपने साम्राज्य मे—सम्राज्ञी की भाँति देखने की उदारता आधुनिक हिन्दी के कवियो ने नहीं दिखाई। पन्तजी इस दिशा में अग्रसर होने वाले पहले व्यक्ति हैं। उनकी 'वीचि-विलास', 'मौन निमन्त्रण', 'बादल' आदि कविताओं में वैसी सहानुभूति झलकती है। परन्तु प्रकृति को प्रकृति की ओर से देखने की कल्पना पन्तजी में भी निर्लेप रूप से विकसित नहीं हुई है। प्रकृति के प्रति पन्तजी का आकर्षण, प्रचलित हिन्दी मे सब से अधिक, तथापि वस्तुन्मुखी नहीं है। 'मौन निमन्त्रण' में प्रकृति की प्रभावशालिनी प्रेरणा से जो भावनाएँ उत्पन्न हुई हैं, उसे भी पन्तजी के छायावाद का एक हल्का रूप कह सकते हैं। इसे प्राकृतिक चित्रांकन का काव्य नहीं कहा जा सकता।

इधर कुछ दिनो के हिन्दी के समीक्षकों ने 'जीवन-जीवन' की आवाज ऊँची कर रखी है। इनमें से कुछ तो यह भी नहीं समझते कि जीवन किसे कहते हैं और कविता मे वह किस रूप मे आ सकता है। कविता 'जीवन' की व्याख्या है—अङ्गरेजी का यह वाक्य सुन कर वे लोग इसे मुहावरे के तौर पर व्यवहार में लाते और कहते हैं कि आधुनिक कविता में 'जीवन' नहीं मिलता। सम्भव है इन्हीं समीक्षकों की तृप्ति के लिए पंतजी ने 'गुंजन' के कुछ पद्यो में 'जीवन' शब्द का प्रयोग प्रचुर परिमाण में कर दिया है (पन्तजी इन विषयों मे भी काफी व्यवहार-कुशल देख पड़ते हैं)। इसका परिणाम भी यथोचित मात्रा में निकल गया है—'विशाल भारत' में पन्तजी के एक समीक्षक की उक्तियो से ऐसा ही समझ में आता है। बहुत सम्भव है पन्तजी के 'जीवन' शब्द के कारण ही वे लेखक महाशय यह लिखने को उत्साहित हुए हों कि अब पन्तजी की कविता में जीवन आने लगा है। परन्तु पन्तजी की कविता की वास्तविक जीवन-व्याख्या लेखक की बुद्धि-परिधि के बाहर की बात देख पड़ती है।

श्री० महादेवी वर्मा

'यामा' श्री महादेवी वर्मा का सम्पूर्ण काव्यसग्रह है। इसके चार यामो में उनकी चारों स्फुट रचना-पुस्तके संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त महादेवी जी की कोई अन्य रचना शायद प्रकाश में नहीं आई है। अवश्य यहाँ मेरा मतलब केवल उनकी काव्य-रचनाओं से ही है। ये सब की सब मुक्तक पद्य और गीत रूप में है, जिन की संख्या दो सौ से कुछ कम है। साथ ही 'यामा' मे महादेवी जी की लिखी भूमिकाएँ और उनके बनाये कितने ही चित्र हैं जिन से उन के काव्य पर आवश्यक प्रकाश पड़ता है।

अच्छा होता यदि हम बिना कोई भूमिका बाँधे ही 'यामा' का अध्ययन (यहाँ अध्ययन से मेरा मतलब उसकी विशेषताओं के पर्यवेक्षण से है) आरम्भ कर सकते, किन्तु ऐसा करने में एक कठिनाई दीखती है। 'यामा' केवल एक संग्रहपुस्तक ही नहीं है, उसमें महादेवी जी का पूरा काव्यव्यक्तित्व ही है। इस व्यक्तित्व को हम नवीन काव्य-धारा से एकदम अलग रख कर नहीं देख सकते। साम्य और वैषम्य के वे सूत्र हमें सक्षेप मे देखने होंगे जिनके द्वारा महादेवी जी सामयिक काव्यजगत से बँधी हुई हैं। उनके लिए एक छोटी-सी, उपयुक्त, सेटिंग हमें तैयार करनी होगी।

हिन्दी मे महादेवी जी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्यकाल में हुआ था, किंतु आरम्भ से ही उनकी रचनाएँ छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः एकदम रिक्त थीं। मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। इस व्याख्या मे आगे 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थगर्भ शब्दो को हम अच्छी तरह समझ ले। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतंत्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अंतर्गत नहीं ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमांत पर हम स्काट और बाइरन जैसे अंग्रेज़ी के कवियों को पाते हैं जिन्होंने विमोहक और तल्लीनताकारी नारीसौंदर्य को लम्बी कथाओं के सूत्र में ताना है, और प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बना कर चित्रित किया है। वे प्रकृत छायावादी नहीं कहे जा सकते। और छायावाद के दूसरे सीमांत पर हम वर्ड्सवर्थ को देखते हैं जिसकी प्रकृति के प्रति इतनी सात्त्विक प्रीति है कि वह व्यक्त सौंदर्य के प्रति निस्पंद,

रखती है। इसमे इन्द्रियानुभूति की सहज प्रगति या विकास के लिए स्थान नहीं है। यह क़दम-क़दम पर धर्म के कठघरे मे बन्द होने की अभिरुचि रखती है।

काव्य मे यह रहस्यवाद बडे बडे दुर्दिन देख चुका है। अपने अतिप्राकृत स्वरूप के कारण पहले तो इस की अभिव्यक्ति ही अतिशय दुर्गम और दुरूह है, किंतु कुछ सच्चे रहस्यवादियो ने कुछ अनोखे रास्ते निकाले भी तो उन पर चलने वाले बहुत से झूठे रहस्यवादी नक़लनवीस निकल आये। उन्होने काव्य की पूरी-पूरी अधोगति कर डाली। सारी प्रकृति को समाहित करने वाली निर्गुण प्रेम की विशुद्ध व्यंजना विषयवासना का नगा नाच बन कर रह गई। उपनिषदों का ऊर्जस्वित आत्मवाद संपूर्ण कर्तव्यो से हाथ समेटने का बहाना सिद्ध हुआ। योग और तंत्र-शास्त्रो की प्रकृति को आत्मा मे लय करने की सारी प्रक्रिया जो पूर्ण मनुष्यत्व का साधन थी अनहोनी सिद्धियों और तामसिक उपचारों का दूसरा नाम बन गई। शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक सबलता का प्रचारक रहस्यवाद 'ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन-बसेरा' गा कर भीख मॉगने वालो का ब्रह्मास्त्र बन गया। एक ओर तो यह नकली रहस्यवाद की प्रगति हुई और दूसरी ओर रूढिबद्ध हो कर रहस्यकाव्य विनय के पदो, भक्तिगीतों, धार्मिक आख्यानों आदि में परिणत हो गया। अवश्य ही ईरान और फारस के कुछ सूफी कवियों और भारत के कुछ निर्गुनियो ने रहस्यकाव्य की वास्तविक मर्यादा स्थिर रक्खी किन्तु उनकी सख्या अँगुलियो पर गिने जाने के योग्य है। यह इतनी भी है, यह कम गौरव की बात नहीं क्योंकि हम कह चुके हैं कि रहस्यानुभूति एक अति विरल वस्तु है और उसकी काव्य-प्रक्रिया भी उतनी ही दुरूह और दुःसाध्य है।

रहस्यकाव्य की मुख्य परम्पराओ में हम नीचे लिखे भेदो की परिगणना कर सकते हैं। यदि हम प्रकृति की ओर से आत्मसत्ता की ओर आगे बढ़े तो इस गणना का क्रम इस प्रकार होगा—विश्वसुन्दरी प्रकृति मे चेतनता का आरोप, यह पहली सीढ़ी है। इसी के अन्तर्गत सुख और दुख का सामंजस्य जिसे प्रसादजी ने समरसता कहा है, आ जाता है। यही प्रसादजी की 'अपरोक्ष अनुभूति' भी है। महादेवी जी ने इसे छायावाद की सीमा मे मान कर एक दूसरे ढङ्ग से कहा है—'छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओसबिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।' वास्तव मे यह रहस्यवाद का पहला और व्यापक उपक्रम है जिस में भावना-बल से, 'एकोऽहं बहुस्याम' को 'एकोऽहं' की ओर प्रत्यावर्तित करते हैं।

छोड़कर परोक्ष अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। महादेवी जी के काव्य की यही भूमि है। परोक्ष अनुभूति के भी कितने ही भेदोपभेद हैं जिन्हें दार्शनिक दृष्टि से तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। सगुण साकार, सगुण निराकार और निर्गुण निराकार। एक दिव्य व्यक्तित्व पर, वह प्रेममय हो, करुणामय हो अथवा शक्तिमय या आनन्दमय, आस्था रखने वाले सगुण साकार के अनुयायी होते हैं। महादेवी जी की अधिकांश रचना का यही दार्शनिक आधार दीखता है। वे लिखती भी हैं—'मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।' मधुरतम व्यक्तित्व की यह नियोजना महादेवी जी के काव्य में मौजूद है किन्तु उसके निकट आत्मनिवेदन करने वाले बहुत से भक्त कवि हो गये हैं जिनका धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त आदर है किन्तु जिन्हें रहस्यकाव्य का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि महादेवी जी ने अपने इस वक्तव्य में आवश्यक सतर्कता से काम नहीं लिया। यही नहीं, उन्होंने रूढ़िबद्ध धार्मिक काव्य और वास्तविक रहस्य काव्य का स्पष्ट अन्तर सदैव अपने सामने नहीं रक्खा है जिस से उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर प्राकृत अध्यात्म की जगह रूढ़ि के चिह्न मिलते हैं।

सगुण साकार दार्शनिकता का सब से बड़ा खतरा यही है कि वह निःसीम सौंदर्यसत्ता का रहस्य खो कर सीमारेखाओं में आ जाता और वास्तविक परोक्ष अनुभूतिसम्पन्न काव्य का विषय न रह कर, धर्म और उपासना का आधार बन जाता है। सगुण दार्शनिकों और कवियों ने इस कठिनाई को खूब अच्छी तरह समझा था। इसीलिए उन्होंने बचत के कई उपाय निकाले थे। प्रथम, उन्होंने उस मधुरतम व्यक्तित्व को अलौकिक सत्ता संपन्न अंकित करने की चेष्टा की। इस के लिए दार्शनिकों को दिव्य सत्ता सम्बन्धी एक नई दार्शनिक प्रक्रिया ही चलानी पड़ी जिस में उस दिव्य व्यक्तित्व के सभी उपकरणों, उस के नाम, रूप, लीला और धाम को तथा उससे सम्पर्कित वस्तुव्यापार को बार-बार अप्राकृत घोषित करना पड़ा। किन्तु काव्य अथवा कलाओं का काम केवल घोषणा से नहीं चलता। उन्हें ऐसी प्रतीक योजना का सहारा लेना पड़ा जिस से वस्तुतः अलौकिक का आभास मिल सके। कवियों को उस मधुरतम चरित्र के निर्माण में दिव्य

इतना प्रगाढ धाराबद्ध प्रवेश और पुनः-पुनः उस अव्यक्त का नैसर्गिक आवाहन और आलेख हम अन्यत्र कहाँ पाते है ? अवश्य, जहाँ यह प्रेम कथानक का रूप धारण करता है, वहाँ वही कठिनाई सूफ़ियो के सामने भी आती है जो वैष्णव साकारोपासको के सामने आई है । यहाँ सूफ़ियों ने कथा को सैद्धांतिक दृष्टि से रूपक मात्र घोषित किया है किंतु इससे समस्या सुलझ नहीं पाई । फलतः सूफी आख्यानक काव्यो मे रूपक की चिंता न कर, सारी वर्णना के भीतर अति मोहक प्राकृतिक सौंदर्य-तल्लीनता, प्रेम के प्रति परिपूर्ण आत्मविसर्जन और फिर भी उसकी दुष्प्राप्ति का संकट दिखा कर अव्यक्त प्रेम-रहस्य का इंगित किया गया है । इन कथानको को रहस्यकाव्य कहने में फिर भी संकोच रह ही जाता है । यह स्पष्ट ही इसलिए कि कथा के सूत्र साद्यंत रहस्य की रक्षा नहीं कर सकते और यदि उन्हे रूपक मान लें तो सहज काव्य-सौंदर्य की हानि हो जाती है । इसी लिए कथानको वाले जायसी आदि कवियो को रूपक के स्वरूप की चिंता न कर सारे काव्य को, चाहे वह मायारूपिणी नागमती अथवा विद्यारूपिणी पद्मावती का प्रसंग हो, आत्मविसर्जनकारी अलौकिक प्रेम-पीर से आप्लुत कर देना पड़ा है । फिर भी कथा का चक्र स्थान-स्थान पर बाधक बन ही गया है ।

कुछ समीक्षक इसी निराकार प्रेमव्यंजना के भीतर, ब्रज मे विहरण करने वाली, गिरिधर मूर्ति की उपासिका, चिरंतन प्रेम और चिर विरहमयी मीरा के काव्य को भी शुमार करते है किंतु ऐसा करने का हमे कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दीखता । जिन्होंने सूरदासजी के 'गोपीविलाप' और 'भ्रमरगीत' का अध्ययन किया है उन्हे मीरा को किसी निराकार कृष्ण की उपासिका बना देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी । अवश्य मीरा एक नारी थी और गिरिधर के प्रति उनका प्रियतम भाव था किंतु ऐसा ही भाव गोपियों का भी था जो निराकार की उपासिका नहीं थीं । स्वप्न में प्रियतम के दर्शन आदि के उल्लेख गोपियो के विरह-वर्णन मे भी मिलते है और मीरा मे भी। महादेवी जी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परंपरा की अनुयायिनी प्रतीत होती है ।

निर्गुण निराकार ही आध्यात्मिक दार्शनिकता की चरम कोटि है । एक अखंड, अव्यय चेतन तत्त्व जिसमे त्रिकाल मे भी कोई भेद किसी प्रकार सम्भव नहीं, जिस चिर स्थिर आत्मतत्त्व के अविचल गौरव मे संसार की उच्चतम अनुभूतियां भी मरीचिका-सी प्रतीत होती हैं, वह परिपूर्ण आह्लाद जिसमे स्मित-तरंगो के लिए कोई अवकाश नहीं, रहस्यवाद का सर्वोच्च निरूप्य है । इसके ओजस्वी निरूपण उपनिषदों से जैसे और कहीं नहीं मिलते । आगे चल कर इसकी महामहिमा का जय होने लगा, इसमें भिन्न के

क्लिष्ट कल्पना का एक उदाहरण मैं ने यह चुना है—

> निश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार।
> लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के वंदनवार॥
> तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार!
> आँसू से लिख-लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार॥

आकाश में रात्रि के समय अचानक बादल छा गये हैं और पानी बरसने लगा है। इसी अवस्था की कल्पना यह जान पड़ती है। अथवा यह रात्र्यंत की कल्पना है। रात्रि के, मुक्तावलियों के अभिराम वंदनवार (तारिकापंक्ति), छिन्न हो कर लुट गये हैं। निश्वासों का नीड़ उसका शयनागार बन गया है (इस का इतना ही अर्थ मेरी समझ में आ पाता है कि रात्रि दुःखपूर्ण निश्वास ले रही है)। तारे बुझ रहे हैं, बूँदे गिरने लगी हैं, वही मानो बुझते तारो के नीरव नयनो का हाहाकार और उसके आँसू हैं जिनके द्वारा यह लिखा जा रहा है, 'ससार कितना अस्थिर है!' कितनी कल्पना हमें ऊपर से करनी पड़ती है, कृपया विचार कीजिए! और अब भी मुझे निश्चय नहीं कि मेरा अर्थ ठीक ही है।

जिस क्षण को महादेवी जी की कल्पना ने पकड़ा है—तारों से हँसते हुए आकाश मे सहसा मलिन बादलो का छा जाना, अथवा निशान्त में तारों का डूबना, वह काव्योपयुक्त और अति सुन्दर है. किन्तु क्या यही बात उनके इस चित्रण के सम्बन्ध में कही जा सकती है?

इसके दो कारण मुझे दीखते हैं। एक तो यह कि महादेवी जी की कविताएँ इतनी अन्तर्मुख है कि वे प्रकृति के प्रत्यक्ष स्पदनों, उनकी ध्वनियो और सङ्केतो से सुपरिचित नहीं, और दूसरा यह कि वे काव्य के एक-एक बन्द को एक एक चित्र के रूप में सजाना चाहती हैं, जिसमें वस्तुओ और व्यापारों की योजना सश्लिष्ट हुआ करती है। और चूँकि वे मानसिक वृत्तियों और वातावरणों को भी उन्हीं वस्तुव्यापारो के द्वारा ध्वनित करना चाहती हैं, इसलिए यह कार्य उनके लिए दुःसाध्य हो जाता है। उनके इन दीर्घ चित्रणों की तुलना अन्य प्रमुख छायावादियो से कीजिए तो अन्तर आप दीखेगा—

> देख वसुधा का यौवन-भार, गूँज उठता है जब मधुमास।
> विधुर उर के-से मृदु उद्गार, कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास।
> न जाने सौरभ के मिस कौन संदेशा मुझे भेजता मौन!

—सुमित्रानंदन पंत ('मौननिमंत्रण')

पाठक देखेंगे कि यह सौन्दर्य-चित्रण आध्यात्मिक रहस्य-मुद्राओं से परिपूर्ण है, इसे छायावाद की परम्परा में हम नहीं ले सकते। इनमें एक विलक्षण उदासीनता, सात्विकता, शान्ति और निश्चलता झलकती है। छायावाद की चेतनता, चाञ्चल्य और चटक इनमें नहीं। महादेवी जी के काव्य की यह एक सार्वनिक विशेषता है।

किन्तु महादेवी जी की अधिकांश रचनाओं में ऊपर के-से भाव-सङ्केतक रूप चित्र नहीं मिलते, भावों का चित्रण ही प्रधानतः मिलता है। मेरी अपनी दृष्टि से रूपचित्रण की सहायता बिना रहस्यवाद की काव्य-कला का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो सकता। जो स्वयं अदृश्य वस्तु है उसे अस्फुट उपमानों से व्यक्त करना, पाठकों को काव्य-रस से अंशतः वञ्चित ही रखना है। जैसे 'बेसुध पीड़ा' के सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ—

इसमें अतीत सुलझाता अपने आँसू की लड़ियाँ,
इस में असीम गिनता है वे मधुमासों की घड़ियाँ।

किन्तु इनकी गणना कहाँ तक की जाय, यह महादेवी जी की प्रधान काव्य-शैली ही है। तो भी इसके अन्दर कुछ उच्च कोटि की रचनाएँ भी उन्होंने की हैं। जहाँ व्यक्त रूप किसी न किसी प्रकार आ गये हैं वहाँ रचना प्रायः सुन्दर हुई है—

किसी नक्षत्र-लोक से टूट,
विश्व के शतदल पर अज्ञात।
ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद,
तरल मोती-सा ले मृदु गात—
नाम से जीवन से अनजान,
कहो क्या परिचय दे नादान!

अथवा—

स्मित तुम्हारी से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान,
जान कब पाई हुआ उसका कहाँ निर्माण!
अचल पलकों में जड़ी-सी तारिकाएँ दीन,
ढूँढतीं अपना पता विस्मित निमेषविहीन।
... ...
कौन तुम मेरे हृदय में?
कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित?
कौन प्यासे लोचनों में घुमड़ घिर झरता अपरिचित?

स्वरूप महादेवी जी के काव्य में चित्रांकण-कला का एक सफल उदाहरण है, भले ही प्रकृत भावोच्छ्वास का प्रवेश उसमें न हो।

मैंने ऊपर कहा है कि छायावाद काव्य के व्यक्त प्रकृति के सौंदर्य-प्रतीकों को न लेकर महादेवी जी ने उन प्रतीकों की अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। इससे उनकी रचनाओं में वेदना की विवृत्ति और रहस्यात्मकता बढ़ गई है किन्तु वे स्थल कहीं-कहीं अधिक दुरूह भी हो गये हैं। उदाहरण के लिए यह रचना लीजिए—

> उच्छ्वासों की छाया में, पीड़ा के आलिंगन में,
> निश्वासों के रोदन में, इच्छाओं के चुम्बन में,
> उन थकी हुई सोती-सी उजियाली की पलकों में,
> बिखरी उलझी हिलती-सी मलयानिल की अलकों में,
> सूने मानस-मंदिर में, सपनों की मुग्ध हँसी में,
> आशा के आवाहन में, बीते की चित्रपटी में,
> रजनी के अभिसारों में, नक्षत्रों के पहरों में,
> ऊषा के उपहासों में, मुस्काती-सी लहरों में,
> जो बिखर पड़े निर्जन में निर्भर सपनों के मोती,
> मैं ढूँढ रही थी लेकर धुँधली जीवन की ज्योती।

लाक्षणिकता उसी हद तक काव्य में काम दे सकती है जिस हद तक वह उसके धारावाही सौन्दर्य में रोड़े न अटकाये। महादेवी जी के काव्य की जो भूमि है उसी भूमि की रचनाएँ कतिपय छायावादी कवियों की भी मिलती हैं किन्तु उनकी व्यंजना व्यक्त सौंदर्य-प्रतीकों के और सीधी लाक्षणिकता के आधार पर होने के कारण स्पष्टतर हुई है। उदाहरणार्थ हम निरालाजी की रूपातिशय्य रचना 'तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता' को लें तो दोनों का अंतर साफ दिखाई देगा। हमारे कहने का मतलब यह नहीं कि महादेवी जी के ऐसे प्रयोग सर्वत्र दुरूह हो गये हैं, कहीं-कहीं वे अतिशय मार्मिक हैं। जैसे—

> इन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला।
> पीड़ा का सार मिला कर प्राणों का आसव ढाला।
> मलयानिल के झोंकों में अपना उपहार लपेटे।
> मैं सूने तट पर आई बिखरे उद्गार समेटे।

पहले व्यक्तिगत भावुकता अथवा रूढि भक्तिभावना के रूप मे रही है जो क्रमशः निखरती गई है। अब मैं इनके एक-एक उदाहरण दूँगा—

भावुकता का स्वरूप निम्नांकित 'फँसी' मे प्रकट हुआ है—

चाहता है यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार।
कलियों के उच्छ्वास शून्य मे ताने एक वितान,
तुहिन-कणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दे गान—
जहाँ सपने हों पहरेदार, अनोखा एक नया संसार।

रूढिगत भक्तिभावना मुझे वहाँ दीखती है जहाँ महादेवी जी ने रहस्यमय आध्यात्मिक सत्ता को स्थूल उपास्य का रूप दे दिया है अथवा जहाँ प्राकृतिक सौंदर्य का, जिसमे कवि-हृदय बिना मुग्ध हुए नहीं रहता, स्थान-स्थान पर प्रतिषेध किया है।

निराली कलकल मे अभिराम, मिलाकर मोहक मादक गान।
छलकती लहरों मे उद्दाम, छिपा अपना अस्फुट आह्वान।
न कर हे निर्झर भङ्ग समाधि, साधना है मेरा एकान्त।

किन्तु नीचे के पद्य मे रूढिरहित आध्यात्मिक निरूपण है,—

छाया की आँख-मिचौनी, मेघों का मतवालापन,
रजनी के श्याम कपोलों पर ढरकीले श्रम के कन।
फूलों की मीठी चितवन, नभ की यह दीपावलियाँ,
पीले मुख पर संध्या के वे किरणों की फुलझड़ियाँ।
विधु की चाँदी की थाली मादक मकरंद भरी-सी,
जिसमें उजियारी रातें लुटतीं घुलतीं मिसरी सी।
भिक्षुक से फिर जाओगे जब लेकर यह अपना धन,
करुणामय तब समझोगे, इन प्राणों का मँहगापन।

'न थे जब परिवर्तन दिन रात, नहीं आलोक तिमिर थे ज्ञात' से आरम्भ होने वाला पूरा गीत भी रूढ पद्धति पर बना है। किन्तु आगे चल कर जहाँ वेदना तप कर निखर उठी है, वहाँ रूढि का लेश भी नहीं दीखता और काव्य ऊँचे धरातल पर आ पहुँचा है। यहाँ वेदना खूब सशक्त संवेदन की छटा ले कर आती है—

देव, अब वरदान कैसा ?
वेध दो मेरा हृदय माला बनूँ, प्रतिकूल क्या है।
मैं तुम्हें पहचान लूँ इस कूल तो उस कूल क्या है।

इन उद्धरणों की पहली पंक्तियाँ जितनी सुन्दर और काव्योपयुक्त हुई हैं, उतने ही प्रत्येक दूसरी पंक्ति के चिह्नित प्रयोग चिंत्य हो गये हैं। कई पंक्तियाँ शुष्क गद्य-सी प्रतीत होती हैं—

मैं मदिरा तू उसका खुमार।
मैं छाया तू उसका अधार।
चल चितवन के दूत सुना उनके पल में रहस्य की बात।
मेरे निर्निमेप पलकों में मचा गये क्या-क्या उत्पात।
गये तब से कितने युग बीत हुए कितने दीपक निर्वाण।
नहीं पर मैं ने पाया सीख तुम्हारा-सा मनमोहन गान॥

नीचे लिखी पंक्ति ध्वनि-शैथिल्य का एक उदाहरण है—

शिथिल मधु-पवन गिन-गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर।

तुम बिन, उन बिन, जैसे प्रयोग अधिक नहीं अखरते और 'पथ बिन अन्त' भी चल जाता है। 'मैं न जानी', 'मैं प्रिय पहचानी नहीं' जैसे व्याकरण असम्मत प्रयोग भी अप्रिय नहीं लगते। तो भी कहना पड़ता है कि महादेवी जी की रहस्यानुभूति जितनी समृद्ध है, उनकी काव्य-प्रतिभा उतनी ही उत्कृष्ट नहीं और भाषा-शक्ति भी सीमित है। किन्तु अभी महादेवी जी निरन्तर विकास के मार्ग पर बढ़ रही हैं, वे किस दिशा में कितना बढ़ेंगी यह अब तक अज्ञात है। इसलिए उनकी किसी भी विशेषता पर अन्तिम मुहर अभी नहीं लगाई जा सकती।

अब यहाँ मुझे उन मतदाताओं के समाधान में कुछ अन्तिम शब्द कहने होंगे जो महादेवी जी की अनुभूतियों पर काल्पनिकता का आरोप करते हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि किस जगत की बातें वे कर रही हैं और उनसे हमारा क्या सम्बन्ध हो सकता है। इन्हीं में से वे कुछ लोग भी हैं जो आधुनिक कोलाहल में व्यस्त होने के कारण या तो महादेवी जी के काव्यजगत में पहुँच ही नहीं पाते, अथवा दो-चार चीजों की बानगी लेकर, शेष सब एकरूप ही हैं, कहने की जल्दबाजी करते हैं। इन सब को मेरा उत्तर यह है कि महादेवी जी के काव्य का आधार उसी अर्थ में काल्पनिक कहा जा सकता है जिस अर्थ में कबीर और मीरा का काव्याधार काल्पनिक है, जिस अर्थ में 'गीताजलि' और 'आँसू' काल्पनिक हैं। जो महादेवी का अध्ययन नहीं कर सकते वे इन कवियों का भी अध्ययन कैसे कर सकते हैं, अथवा इनको भी एकरूप क्यों नहीं कहते।

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
... ...
लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे।
उडते खग जिस ओर मुँह किए समझ नीड़ निज प्यारा।

कवि अपने मूल विषय को लेकर कितनी दूर चला गया है, व्यक्तिगत भाव के भार से कितना छूटा हुआ! पक्षियों का अनुकूल पवन के सहारे, छोटे छोटे इंद्रधनुषों के-से पंख पसारे, अपनी ईप्सित दिशा में नीड़ों की ओर उड़ना, और मेरा देश! (सुख, सौंदर्य और अपनेपन की व्यंजना)। अनजान क्षितिज को कूल-किनारा मिलना—सहारा मिलना, और मेरा देश (आश्रय, दाक्षिण्य और औदार्य का भाव)। और साथ ही क्षितिज को किनारा मिलने और पक्षियों के नीड़ की ओर उड़ने की मूर्तिमत्ता कितनी सहज, भव्य और हृदयग्राहिणी है। यहाँ भावना तो है ही, किन्तु समुन्नत काव्य के वेष में। महादेवी जी की शक्ति भावना के विश्लेषण में है, प्राकृतिक रूपों और उपमानों द्वारा उसे व्यंजित करने में नहीं। बाह्यनिरपेक्षता और अंतरगता जो महादेवी जी में एक सीमा तक बढ़ी हुई है, उन की काव्यशक्ति को परिपूर्ण विकास नहीं दे रही है।

सभी उच्च कोटि के रहस्यवादी कवियों और स्वयं मीरा में भी भावना का प्राचुर्य उपयुक्त प्राकृतिक उपमाओं और कल्पनाओं के सहारे, काव्यात्मक परिच्छद में व्यक्त हुआ है। बल्कि हृदय के सूक्ष्म भावों की व्यंजना के लिए अन्य कवियों की अपेक्षा रहस्य-वादी कवि को प्रकृति की उस की एक-एक भावभंगी, रूप-रंग, गति-अनुगति की—और भी महीन परख रखनी पड़ती है; अन्यथा उस का काम नहीं चल सकता।

मीरा का काव्य दिव्य प्रेम और विरह पर आश्रित है, जो एक ओर उसे सहज हृदयग्राही बनाता है और दूसरी ओर काव्य के विषय को विस्तीर्ण कर देता है। महादेवी के काव्य में वैराग्यभावना का प्राधान्य है। महात्मा बुद्ध की भाँति नहीं (बुद्ध की मूर्तियों में दुःख की मुद्रा नहीं मिलती) किन्तु बौद्ध-सन्यासिनों और सन्यासियों सरीखी एक चिन्ता-मुद्रा, एक विरक्ति, एक तड़प, शान्ति के प्रति एक अशान्ति महादेवी जी की कविता में सब जगह देखी जा सकती है। किन्तु इस कारण उनकी कविता में एकरूपता 'मोनोटनी' नहीं आई है, जैसा कुछ लोग आरोप करते हैं। उनमें प्रचुर वैभिन्न्य है।

श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी
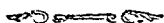
श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जिनकी यह नई रचना* पाठकों के हाथ में है, हिन्दी के प्रमुख ख्यातिप्राप्त कथाकार है। उनका परिचय कराने की आवश्यकता मुझे नहीं। वाजपेयीजी की कृतियों का गहरा प्रेमी मैं कभी नहीं रहा। मैं यह मानता हूँ कि व्यावहारिक समालोचना का मुख्य कार्य यही है कि वह प्रत्येक कृति का अपना सौंदर्य, जो कुछ उसमे है, उद्घाटित कर दे और इस दृष्टि से आलोचक अपने द्वारा उठाये हुए काम के दायरे मे बँधा हुआ भी है। पर मैं यह भी मानता हूँ कि प्रत्येक समीक्षक अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रख सकता है। और इस हैसियत मे वह अपनी रुचि के अनुसार अपना निजी वक्तव्य और सन्देश भी सुना सकता है। उसका यह दोहरा कार्यकलाप अथवा व्यक्तित्व ध्यान देने योग्य है। एक मे वह मुख्यत. साहित्य और कलाओं की विभिन्न कृतियों का अनुशीलन और विश्लेषण करता तथा उनके गुण-दोषों को सामने रखता है और दूसरे मे वह अपनी रुचि या प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्र होकर जो चाहता पढ़ता और जो चाहता लिखता है। किसी कृति की समीक्षा करते हुए तो उसे अपनी स्वतन्त्र रुचि का विज्ञापन करने का अधिकार नहीं होता, पर अन्य समयों में वह ऐसा कर सकता है। कभी-कभी समीक्षक के इस दोहरे आचरण से भ्रान्ति भी फैलने की सम्भावना रहती है. किन्तु इस कारण वह अपनी स्वतन्त्र अभिरुचि का समर्पण नहीं कर सकता। हाँ, किसी विशेष कला-रचना की विवेचना करते समय उसे अपनी यह अभिरुचि काम मे नहीं लानी चाहिए।

अस्तु, मेरी व्यक्तिगत अभिरुचि ऐसी नहीं है कि मैं हठात् वाजपेयीजी की रचनाओं का पक्षपाती हो सकूँ। सच तो यह है कि वह सारा साहित्य जो व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं, असाधारण परिस्थितियों, ऐकान्तिक मनोविज्ञान और सामाजिक निष्क्रियता और उद्देश्यहीनता का निरूपक है, चाहे वह साहित्यिक दृष्टि से कितना ही प्रशस्त और ललित क्यों न हो, मेरी अपनी रुचि के अनुकूल नहीं। कला जब अपना लक्ष्य सूक्ष्म मानसिक प्रेरणा का चित्रण अथवा मनोस्थितियों और मनोदशाओं का प्रदर्शन बना लेती है, तब वह लोकप्रिय न रहकर वैज्ञानिक और दुरूह बन जाती है। और जब कलाकार अपने युग की अथवा किसी अन्य

---

* 'खाली बोतल'—कहानी संग्रह

फिर उस टुकडे को असाधारण योग्यता के साथ सजाकर दर्शक या पाठक के सामने प्रस्तुत कर देना नाजरेयीजी की सिद्धहस्त कला का नमूना है, जो उनकी इन कहानियो मे पाई जाती है। उनकी कहानियो की तुलना मुक्तक काव्य से की गई है जिनमे सोने के तौल जैसी सफाई और रत्ती-रत्ती तुली हुई डांडी होती है। आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द नहीं होता। 'खाली बोतल' संग्रह मे इस कला का सब से सुन्दर उदाहरण पहली कहानी है जिसका शीर्षक पुस्तक का शीर्षक भी है। इसमे खाली बोतल के प्रतीक एक व्यक्ति-विशेष का चित्रण किया गया है। उसके जीवन-सम्बन्धी एक विशेष प्रसग की झाँकियाँ कहानी मे दी गई है, किन्तु उतने ही से उसका सारा जीवन-चित्र आँखो के सामने नाच जाता है। जैसा कि ज़रूरी था, यह खाली बोतल कहानी के अन्त मे फटकर टुकडे-टुकडे हो गई है, जिसकी स्पष्ट ध्वनि यह है कि उस व्यक्ति का क्रिया-कलाप समाप्त हो गया है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन, चुस्ती और कलात्मक पूर्णता की दृष्टि से यह कहानी निश्चय ही बहुत ऊँचा स्थान रखती है।

यह कहानी समाप्त होते हुए उच्चवर्गीय सस्कारो और मनोभावो का निरूपण करती है। कहानी का उद्देश्य इन मनोभावो की व्यर्थता को चित्रित करना है और इस दृष्टि से कहानी का बहुत ही उपयुक्त अन्त हुआ है। उच्च वर्गो की वर्तमान प्रगतिशून्य मनोभावना इसमे स्पष्ट हो जाती है। यह आवश्यक नहीं कि लेखक का उद्देश्य इन मनोभावो का उपहास करना भी हो। वह तो उनका निरूपण करके ही अपने कर्तव्य की पूर्ति कर लेता है।

क्या इन कहानियो को हम 'मानवता के चीत्कार की कहानियाँ' कह सकते है (यह उपशीर्षक पुस्तक के आरम्भ मे पाया जाता है)? मेरी अपनी धारणा यह है कि इनमे व्यक्तिगत दु:खो का चित्रण होते हुए भी मानवता का चीत्कार इन्हे नही कहा जा सकता। अवश्य इन कहानियो मे कुछ ऐसे आदर्शो का भी निरूपण है जिनमे त्याग और कष्ट-सहन की भावना उभर कर सामने आई है। उदाहरण के लिए 'अँधेरी रात' कहानी मे वेश्या के जीवन की एक साधना प्रदर्शित की गई है और 'मैना' तथा 'हार-जीत' और 'ट्रेन पर' कहानियो मे कुछ आदर्शो के लिए किये गये त्याग की झलक दिखाई गई है, किन्तु इस आदर्शवादी त्याग के लिए 'मानवता का चीत्कार' शब्द व्यवहार मे नहीं लाया जा सकता। इससे त्याग की महिमा घट जाती है। न इन्हे हम जागरण की कहानी कह सकते है। वास्तव मे ये एक विशृङ्खल सामाजिक व्यवस्था के युग मे रहने वाले व्यक्तियो के अनुताप और किंकर्तव्यता की कहानियाँ है और कला की

छोड़ कर ह्रासोन्मुख कला की सृष्टि करने लगता है। वह समय के प्रवाह में बह चलता है और अपना असली उद्देश्य छोड़ बैठता है। तब तो वह विवेक का त्याग कर लिप्सा और खुमारी का शिकार हो जाता और अगति में ही प्रगति की कल्पना करने लगता है। किन्तु सभी बड़े कलाकार इस खाई से खूब सावधान और सतर्क रहा करते हैं। वाजपेयीजी कई बार उस सीमा से इस सीमा में प्रवेश कर जाते रहे हैं, किन्तु यह अतिक्रमण क्रमशः कम होता जा रहा है और इन नई कहानियों में बहुत कुछ विरल है।

ह्रासोन्मुख जीवन का चित्रकार अपना क्या सदेश सुनाये? वह लम्बे-चौड़े आदर्शों का हवाला नहीं दे सकता, हिंसा-अहिंसा पर प्रवचन नहीं कर सकता। सभा-सोसाइटियों में मसीहा और दार्शनिक बनने का दम वह नहीं भरा करता। यह स्पष्ट ही इसलिए कि किसी गौरवपूर्ण आदर्शवाद या प्रगतिशीलता से उसका सम्बन्ध नहीं। वह सम्प्रति जिस नकारात्मक उद्योग में लगा हुआ है उसमें किसी प्रत्यक्ष ऊँचे उद्देश्य की दुहाई नहीं दे सकता। उसकी स्थिति उस डाक्टर की-सी है जो आपरेशन का ही काम करता है। यह कोई आकर्षक या लोकरंजक काम नहीं कि भीड़ उनके पास जमा हो। आपरेशन वह करता है, लोगों में प्रेम की अपेक्षा भय की भावना बढ़ाता है और फिर भी किसी के सामने खुल कर वह नहीं कह सकता कि उसका मरीज चंगा ही हो जायगा। वह कुछ कहे या न कहे, किन्तु क्या इस बात में सदेह है कि वह लोक-हितैषणा के कार्य में ही लगा हुआ है।

हमारे कतिपय कहानी-लेखक अध्यात्मवादी और अहिंसावादी हैं, उनकी रचनाओं में अहिंसा का पूर्ण परिष्कार चाहे न आया हो, पर अपना सदेश वे सुना सकते हैं। कुछ अन्य कथाकार जो शोषित के सहायक और निपीड़ित के पक्षपाती हैं, अपना लोकमोचक व्याख्यान जारी रख सकते हैं। उनमें से कुछ तो अपनी पूर्ववर्ती कलाकृतियों का केवल इसलिए उपहास करते हैं कि उनमें सहानुभूतिशील मध्यवर्ग के चित्रण मिलते हैं। कुछ अन्य हैं जो स्वातन्त्र्य के सीमाविस्तार को ऐन्द्रिय लिप्सा के सीमाविस्तार का समानार्थी समझते हैं और लारेन्स और रोमानाफ और न जाने अन्य कितनों की दुहाई देकर साहित्य को अनाकांक्षित गन्दगी का गड्ढा बना रहे हैं। उन्हें यह मालूम नहीं कि यूरोप में किन स्थितियों की प्रतिक्रिया लारेन्स आदि के द्वारा व्यक्त हुई है और भारत में उस स्थिति का आविर्भाव भी है या नहीं। अन्तिम श्रेणी उन कथाकारों की है जो शुष्क तर्क या सिद्धान्त स्थापन के लिए कहानियाँ गढ़ते हैं किन्तु उनमें कला की विश्वसनीयता, निर्माण की

यह भी जब वस्तु रमणीक और उदात्त नहीं, बल्कि उसके विपरीत है आग के साथ खेलना है। समीक्षकों को यह कला सावधानी के साथ परखनी चाहिए।

रोमांटिक कल्पनाओं की वाजपेयीजी की कथाओं मे कमी नहीं है पर चारित्रिक और मनोवैज्ञानिक वैचित्र्य का उद्घाटन उनकी नवीन आख्यायिकाओं मे प्रधानता पाता जा रहा है। दुःख और कष्टसहन उनके मुख्य आकर्षण है। उनकी कथाओं के निर्माण मे इन्हीं दोनों का प्रधान स्थान है। असाधारणता की ओर प्रवृत्ति होने के कारण दुःख और कष्ट सहिष्णु चरित्र भी वे उच्च और मध्यवर्गीय समाज मे से चुनते हैं। आर्थिक क्षेत्र में जो दुःखान्त नाटक 'सर्वहारा' समाज द्वारा खेला जा रहा है, वाजपेयीजी ने अभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। अभी वे उच्च और मध्यम वर्ग की सामाजिक विशृङ्खला को ही दिखा रहे हैं। असल मे यह भी नवीन सांस्कृतिक उत्थान का ही सहायक कला-आन्दोलन है यदि यह विवेकपूर्वक चलाया जाय। विवेक से मेरा मतलब यह है कि लेखक अपना मूल उद्देश्य भूले नहीं कि उसे अपनी कलाकृति द्वारा पाठक की संवेदना सम्यक् रूप से जगाकर सम्यक् दिशा मे लगानी है। दूसरे शब्दों मे यह कि वह आत्म-विस्मृत न हो जाय।

वाजपेयीजी का विवेक पर्याप्त परिपुष्ट है और जहां तक निर्माण की सुघरता का प्रश्न है, हिन्दी कथा साहित्य मे निश्चय ही वे सब से आगे हैं।

वह भी जब वस्तु रमणीक और उदात्त नहीं, बल्कि उसके विपरीत है आग के साथ खेलना है। समीक्षकों को यह कला सावधानी के साथ परखनी चाहिए।

रोमांटिक कल्पनाओं की वाजपेयीजी की कथाओं में कमी नहीं है, पर चारित्रिक और मनोवैज्ञानिक वैचित्र्य का उद्घाटन उनकी नवीन आख्यायिकाओं में प्रधानता पाता जा रहा है। दु:ख और कष्टसहन उनके मुख्य आकर्षण हैं। उनकी कथाओं के निर्माण में इन्हीं दोनों का प्रधान स्थान है। असाधारणता की ओर प्रवृत्ति होने के कारण दु:ख और कष्ट-सहिष्णु चरित्र भी वे उच्च और मध्यवर्गीय समाज में से चुनते हैं। आर्थिक क्षेत्र में जो दु:खान्त नाटक 'सर्वहारा' समाज द्वारा खेला जा रहा है, वाजपेयीजी ने अभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। अभी वे उच्च और मध्यम वर्ग की सामाजिक विशृङ्खला को ही दिखा रहे हैं। असल में यह भी नवीन सांस्कृतिक उत्थान का ही सहायक कला-आन्दोलन है यदि यह विवेकपूर्वक चलाया जाय। विवेक से मेरा मतलब यह है कि लेखक अपना मूल उद्देश्य भूले नहीं कि उसे अपनी कलाकृति द्वारा पाठक की संवेदना सम्यक् रूप से जगाकर सम्यक् दिशा में लगानी है। दूसरे शब्दों में यह कि वह आत्म-विस्मृत न हो जाय।

वाजपेयीजी का विवेक पर्याप्त परिपुष्ट है और जहाँ तक निर्माण की सफलता का प्रश्न है, हिन्दी कथा साहित्य में निश्चय ही वे सब से आगे हैं।

वे न तो भौतिक विज्ञानवाद और उनके नुस्खों को आँख मूंद कर चाट जाने वाले प्रग- वादी हैं और न 'हाय पैसा-हाय पैसा' की रट लगा कर आसमान उठा लेने वाले पैसावादी। वे मनुष्य की सद्वृत्तियों और आध्यात्मिक सम्भावनाओं को जाग्रत करने वाले लेखक हैं। यही कारण है कि जो केवल पश्चिम के सामाजिक प्रयोगों और उपचारों तक ही सीमित रहना चाहते हैं उन्हें जैनेन्द्रकुमार द्वारा नियोजित पुरानी सत्यवादी प्रथा प्रतिक्रियात्मक जान पड़ती है। साथ ही उनकी समझ में नहीं आता कि जारज पुत्र उत्पन्न होने की सम्भावना पर कोई माता आत्मग्लानि क्यों करती है, वह उस पुत्र को अपनाकर निर्भीक भाव से उसे समाज के सामने प्रदर्शित करने से डरती क्यों है? यह अतिनिभीकतावाद जैनेन्द्र के उपन्यासों में नहीं है किन्तु इसके बदले एक पवित्रतावादी दृष्टिकोण और सिद्धान्तों के लिए कष्ट-सहन की असाधारण क्षमता उनके कितने ही पात्रों में देखी जाती है।

यद्यपि जैनेन्द्रकुमार आध्यात्मिक दर्शन के अनुयायी हैं किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि वे अपने विचारों में पुराण-पंथी या रूढ़िवादी हैं। भौतिक विज्ञान को अथवा यह कहें कि उसकी वर्तमान विधियों को वे सर्वश्रेष्ठ सत्य नहीं मानते, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे दुनिया की व्यावहारिक समस्याओं की ओर से उदासीन हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों के सम्बन्ध में मेरा आक्षेप प्रगतिवादियों जैसा नहीं है। वह बिल्कुल ही दूसरे ढङ्ग का है। मेरी यह शिकायत नहीं है कि जैनेन्द्रकुमार अध्यात्मवादी और पवित्रतावादी अव्यावहारिक दृष्टि रखते हैं, मेरी शिकायत तो यह है कि यह अध्यात्मवादी और पवित्रतावादी दृष्टि जैनेन्द्र में पर्याप्त परिपुष्ट नहीं हो पाई। उनके उपन्यासों को पढ़ने पर एक मनाकांक्षित शृङ्गारिकता की अन्तर्धारा हमें दिखाई देती है। कठिनाई यह है कि यह कृत्रिम भावात्मकता का लबादा ओढ़ कर आती है और ऊपर से विशुद्ध-सी वस्तु जान पड़ती है। पर यह वास्तव में विशुद्ध है नहीं। उदाहरण के लिए 'परख' के पात्रों को लीजिए। सत्यधन कट्टो को पढ़ा रहे हैं। पढ़ाते-पढ़ाते उसकी पुस्तक पर एक वाक्य लिख देते हैं जिस में उक्त विद्यार्थिनी के लिए प्रशंसा के शब्द हैं। ऊपर से यह एक निर्दोष सी घटना या चेष्टा मालूम देती है, पर यह पूरा प्रसंग सत्यधन और कट्टो दोनों की मलिन मनश्चेष्टाओं का द्योतक है।

सुनीता और हरिप्रसन्न के पारस्परिक व्यवहारों में आदि से अन्त तक एक विचित्र झिझक गोपनीयता या छिपावट की प्रवृत्ति पाई जाती है। एक परवशता सा मानना दोनों का मालूम देता है जो 'भाभी' या ऐसे अन्य शब्दों की आड़ में भी छिपता नहीं।

दुर्व्यवहार बहुत ही स्पष्ट है, पर मृणाल पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है यह स्पष्ट नह
होता। अचानक वह एक तीसरे आदमी के साथ पाई जाती है। इस आदमी से उ
क्या सुख मिलने को है यह वह अच्छी तरह जानती है, फिर भी उसका साथ तब त
नहीं छोड़ती जब तक वह स्वय उसे छोड़ कर नहीं चला जाता। इसके पश्चात् मृणाल
के दुःख बढ़ते ही जाते हैं और वह ठोकरें खाती हुई ऐसे गन्दे स्थान पर पहुँच जाती
जहाँ मनुष्य रह नहीं सकता। फलतः वहीं उसका देहावसान हो जाता है।

इस सम्पूर्ण दुर्घटना के बीच मृणाल की उसके भतीजे से (जिसे वह बहुत प्या
करती है) कई बार भेंट होती है और वह कई बार उससे घर चलने का आग्रह भी करता
है, पर यहाँ मृणाल एक ऐसे सिद्धान्त से बँधी दिखाई देती है कि वह अब अपने माँ-
बाप, भाई-भतीजे के घर जा ही नहीं सकती।

अवश्य यह उपन्यास हममें मृणाल के दुःखों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता
है, (दुःख के प्रति स्वभावतः सहानुभूति होती ही है) पर हम यह नहीं जान पाते कि
मृणाल वास्तव मे चाहती क्या है और किस प्रकार उसका दुःख दूर हो सकेगा ! फल
यह होता है कि हमारी सहानुभूति कोई सुदृढ आधार नहीं पाती और वह अनिश्चित,
अनिर्दिष्ट-सी बनी रहती है।

यदि मृणाल का व्यक्तित्व सुस्पष्ट होता, यदि हम उसके दुःखों और कष्टों के स्व-
रूप तथा उनके कारणों को ठीक-ठीक समझ पाते तो निश्चय ही यह उपन्यास अब की
अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली हो जाता।

'कल्याणी' के साथ भी यही कठिनाई है। उसका चरित्र आरम्भ से ही सदेहा-
स्पद बना दिया गया है। विलायत से लौटने पर उसके सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के
प्रवाद फैलाये गये है। उपन्यास मे आगे चल कर यह तो मालूम होता है कि ये प्रवाद
निराधार या असत्य थे पर यह नहीं मालूम पड़ता कि "कल्याणी" के मन में पश्चात्ताप
किस बात का है ? वह अपने पति की भर्त्सना और उसकी डाट डपट, मार-फटकार को
हँसी-खुशी क्यों स्वीकार करती है ? क्या उसका गर्भगत पुत्र सचमुच पति से भिन्न किसी
व्यक्ति का है ? इस प्रश्न के उत्तर में उपन्यास शुरू से लेकर आखिर तक मौन है।
अथवा अधिक-से-अधिक एक अन्धकारपूर्ण रहस्य में यह प्रश्न पड़ा हुआ है।

कल्याणी के चरित्र को हम स्वस्थ चरित्र नहीं कह सकते। वह क्रान्तिकारियों को
आश्रय देती है। हमारे जैनेन्द्रजी के लिए 'भारती बनोतन' बनवाने को आमादा हो जाती
और कांग्रेसी प्रधान मन्त्री से उपयुक्त सहायता न मिलने पर भला-बुरा भी बहुत कुछ

जिसे वह नहीं चाहती और तब विषम विवाह की समस्या को इस रूप मे रखने का अवसर ही न आता। जो स्त्री अपनी अनिच्छा से विवाहित हुई है वह विवाह होने पर पति को सर्वस्व समर्पण कर उसकी अनुचरी बन जायगी, यह गाधीजी की उस टेक्नीक के अनुकूल भले ही हो कि जेल के बाहर सत्याग्रह करे, पर भीतर सारे नियमो का पालन। किन्तु यह टेकनीक मात्र का अनुकरण है, सत्याग्रह का सार यहाँ नहीं और न तो यह विद्रोही मनोवृत्ति के विकास के उपयुक्त है। इसी प्रकार वह यह भी कहेगा कि उपन्यास की नायिका किसी क्रमबद्ध मनोविज्ञान के आधार पर नहीं चलती। बल्कि एक अहिंसावादी टेकनीक-विशेष की पुष्टि के लिए भाँति-भाँति की परिस्थितियो मे डाली जाती और आचरण करती है। किन्तु प्रभाववादी समीक्षक इन पहलुओ पर ही ध्यान न देकर यह भी अनुभव करेगा कि उपन्यास विषम-विवाह के प्रश्न पर, जो इस उपन्यास में आयोजित है, कैसी गहरी चोट कर सका है। उसे यह अवश्य अनुभव होगा कि मृणाल आज की परवश नारी और विवश कन्या की प्रतीक बनाकर दिखाई गई है। प्रचारात्मक अधिकाश कृतियो की भाँति इसमें भी कुछ दोष हैं अतिरंजना के, और अस्पष्टता इस उपन्यास का दुर्गुण बन गया है, पर इसके प्रभावात्मक गुणों की अवहेलना नहीं की जा सकेगी।

इन त्रुटियो के रहते भी मेरी जैनेन्द्रकुमार मे आस्था है। मुझे यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण है कि दिखावटी भावात्मकता और कारण-हीन अप्रासंगिक करुणा के स्थान पर विशुद्ध, सुस्वस्थ भावना और आदर्श की प्रतिष्ठा जैनेन्द्र अपने उपन्यास-साहित्य में कर सकेगे। उन्होने तथा-कथित प्रगतिवाद के नपे तुले नुस्खो को छोड़ कर जीवन की वास्तविक गहराई में पैठने का उपक्रम अपने उपन्यासो मे आरम्भ से ही कर रक्खा है। यही उन्हें साधारण (syndicalized) बाजारू प्रगतिवादी साहित्यिक की श्रेणी से ऊपर उठा कर जीवन का मर्मस्पर्शी अन्वेषक बना सका है। कोई भी साहित्यकार किसी बनी-बनाई पगडण्डी पर चल कर अपने गतव्य स्थान तक नहीं पहुँच सकता। उसे स्वानुभूत दर्शन चाहिए, स्वार्जित शक्ति चाहिए। श्री जैनेन्द्रकुमार मे न केवल स्वतन्त्र विचारणा है, स्वतन्त्र कलाभिव्यक्ति भी है। अवश्य उन्हें आवश्यकता है परिमार्जना की और सुस्वरूप सुस्पष्ट अभिव्यक्ति की। जो व्यक्ति भावना की गहराई में इतनी दूर तक पैठ सकता है वह उसे परिमार्जित स्वरूप नहीं दे सकता, यह बात समझ में नहीं आती। मेरी अब भी यही धारणा है कि जैनेन्द्रकुमार प्रासगिक त्रुटियों को दूर कर स्वच्छ सशक्त आदर्शवाद का प्रवाह उपन्यास-साहित्य मे अक्षुण्ण रख सकेंगे। मेरी यह धारणा तब तक बनी रहेगी जब तक जैनेन्द्रकुमार अपनी रचनाओं द्वारा इसका एकदम ही निराकरण न कर देंगे।

अष्टयाम आदि प्रचलित हुए और दूसरी ओर लौकिक काव्य भी नायक-नायिकाओं की अपार श्रेणी-शृङ्खला, ऋतुचर्या, दिनचर्या और सहेटस्थलों के बहुविध भेदों को लेकर उपस्थित हुआ। समाज मे एक ओर साधुओं की अलौकिक सिद्धियों और चमत्कारों का प्राधान्य हो गया तथा दूसरी ओर उसी पैमाने पर नाच-रङ्ग और विलास-सामग्रियाँ फैल चली। नाम और रूपभेद के रहते हुए भी वास्तविकता मे एक-दूसरे के अति निकट आ गई थी। दोनो मे ही दुर्बल भावुकता, राजसिकता और राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक विच्छेद के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

आवश्यकता थी दोनो को एक मे मिलाकर अथवा अलग-अलग ही उनका संस्कार करने की। अलौकिकता को मनोवैज्ञानिक वास्तविकता देने, कर्मक्षेत्र मे आत्म-साधन करने की और लौकिकता को लोकसामान्य या सार्वजनीन बनाने की। इसी प्रकार ये दोनो एक-दूसरे के निकट आकर क्रमशः एक हो सकते थे अथवा पृथक् रहकर भी सामूहिक संस्कृति के उन्नयन मे योग दे सकते थे।

लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, वास्तविक और आदर्श क्या अलग-अलग स्तरों पर है या ये एक ही मूलवस्तु के दो पक्ष या पहलू है? इस आनुषंगिक किन्तु आवश्यक प्रश्न का उत्तर दिये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। प्रत्यक्ष और परोक्ष मे केवल दृष्टिभेद है या वस्तुभेद? यह प्रश्न यहाँ काव्य और कलाओं के मूल्य-निरूपण के विचार से ही पूछा जा रहा है। धार्मिक दृष्टि से प्राय. ये स्तर पृथक्-पृथक् माने जाते हैं। किन्तु नवीन मनोविज्ञान इनमें वस्तुगत भेद नहीं मानता। काव्य में ये प्रायः एक दूसरे से मिले-जुले पाये जाते हैं यद्यपि विशुद्ध आध्यात्मिक काव्य भी कबीर आदि निर्गुण संतो का लिखा पाया जाता है। मूलत. लोकातीत भावनामय, एक असीम तत्व का साक्षात्कार और अभिव्यक्ति चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, यही आध्यात्मिक काव्य का विषय कहा जा सकता है, यही आदर्शवाद की भी एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। किन्तु यह व्याख्या धर्म और अध्यात्म की उन्नतावस्था मे ही ठीक उतरती है, तथाकथित रूढिवद्ध अध्यात्म तो आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भिन्न-भिन्न समयों और समूहों की मानसिक आत्मपूजा-मात्र है। चाहे वह निर्गुण काव्य हो, अथवा सूफी अथवा उन्नतिकालीन भक्ति काव्य ही क्यों न हो, सभी आदर्शवाद की श्रेणी में आते हैं। त्यागोन्मुख भावप्रधान मानव-चरित्र भी इसी कोटि मे सम्मिलित होंगे।

इस सम्पूर्ण आदर्श काव्य का एक सुप्रतिष्ठित दर्शन भी है जिसे व्यापक रूप से आध्यात्मिक दर्शन कहते हैं। असीम सत्ता की स्वीकृति और उस पर आस्था ही इसका

स्थिति के अनुसार नवीन संस्कृति का निर्माण कोई नई घटना नहीं है, किन्तु यह निर्माण पूर्व (इतिहास) की पृष्ठ-भूमि पर ही होता आया है और हो सकता है, ऐसा न मानकर कट्टर वस्तुवादी केवल अपने नवीन विज्ञान के बल पर जो आपात क्रान्ति कर डालना चाहते है वह उनकी एकाङ्गी संकीर्ण दृष्टि तथा अव्यावहारिकता का ही भ्रान्त परिणाम कहा जा सकता है।

इसी प्रकार कट्टर आदर्शवादी जगत् और उसके समस्त वस्तुव्यापार को नश्वर कह कर अपनी अलौकिक और ऐकान्तिक साधनाओ मे लीन होते तथा प्रत्यक्ष मानवीय हितो की उपेक्षा करते है। समस्त लोक-व्यापार के जड़ता या बन्धन मानने के कारण वे लौकिक बुद्धि और उसकी अशेष उपयोगिताओं का तिरस्कार कर डालते हैं। एक असीम अनन्त से जगत् के दुःखो और कष्टो का उपचार व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक सम्भव है, दरिद्रता के पाप से किस प्रकार मुक्ति हो सकती है, त्याग और संयम के संदेशो का किन-किन हलकों मे कैसा-कैसा दुरुपयोग होता है, इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं। सारा जगत् समान रूप से मिथ्या होने के कारण अमीरी और गरीबी, स्वदेशी और विदेशी सब उनके लिए एक से हैं— जो प्रत्यक्षतः एक अन्याय या कम से कम अनभिज्ञता है। प्राय इसी कारण स्थितिपालकता ही उनका लौकिक कार्य क्रम बन जाता और जब कभी वे गद्दियों और पीठो के स्रष्टा हो जाते हैं तब सत्ताधारियो का पक्ष लेते रहना तथा प्राचीन परम्पराओं का पृष्ठ-पोषण करते जाना उनकी नई धार्मिकता बन जाती है। धर्म, अध्यात्म या आदर्शवाद के इसी रूप को लेकर उनपर विपत्तियो के आक्रमण हुआ करते हैं।

किन्तु इन अतिवादो के खतरनाक कगारों के बीच मे आदर्श और वस्तुवाद, अध्यात्म और लोकव्यापार की काव्य-सलिलाएँ बहती हैं और मानवता को एक-सा जीवन-रस प्रदान करती हैं। देश और काल की विभिन्न स्थितियो मे एक या दूसरे का प्राधान्य देखा जाता है। काव्य और संस्कृति के नये-नये परिवर्त्तनों मे इनमें से एक या दूसरे की कला प्रस्फुटित होती है। किन्तु उनमे ये अधिकाश एक दूसरे से मिले-जुले ही रहते हैं। यह तो मै पहले ही कह चुका हूँ कि जब प्रगतिशील संस्कृति से इनका सम्बन्ध छूट जाता है तब ये दोनो ही ह्रासोन्मुख हो जाते हैं।

यहाँ एक आवश्यक शङ्का का समाधान किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। पूछा जाता है कि कबीर आदि का निर्गुण काव्य तो सन्यासमूलक और अध्यात्मपरक है,

प्रकृत आध्यात्मिक रचनाओ से श्रेष्ठ समझा जाना इसी गलतफहमी का परिणाम है।

यह भी नही समझना चाहिए कि काव्य मे परिवर्तन इन बौद्धिक वादो-प्रवादों के फलस्वरूप हुआ करता है। काव्य मे परिवर्तन मुख्यतः राष्ट्र या जाति की सामाजिक और सास्कृतिक प्रगतियों की प्रेरणा से ही होता है। यह बहिरङ्ग हेतु है तथा अन्तरङ्ग हेतु है काव्य मे नवीनता की बद्धमूल आकाक्षा। कभी-कभी कवि की निजी असाधारण अनुभूतियाँ अथवा बौद्धिक धारणाएँ भी काव्य को नूतन स्वरूप देती है किन्तु ऐसा कम ही अवसरो पर होता है। मुख्यतः ऐतिहासिक कारणो से काव्य नए रूप-रङ्ग धारण करता है। यह भी कह सकते हैं कि इन्हीं ऐतिहासिक कारणो से उक्त वाद-प्रवाद भी एक-दूसरे को स्थानान्तरित करके राष्ट्रीय और जातीय रङ्गमञ्चो पर आया करते है। इस प्रकार काव्य और दर्शन दोनों ही इतिहास की वस्तुएँ सिद्ध होती है। परिवर्तन काव्य का नियम बन जाता है।

अस्तु, उन्नीसवी शताब्दी के अन्त और बीसवीं के आरम्भ मे जो दोनो (भक्ति और शृङ्गार की) ह्रासोन्मुखी काव्य-धाराएँ प्रवाहित हो रही थी उनके गतिक्रम मे परिवर्तन सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी काव्याकाश के तारक मण्डल ने किया। इन नए उन्नायको ने एक नई सुकोमल दीप्ति और वेदना की एक दिव्य छाया छा दी। रूखी रूढियों में एक वैयक्तिक आत्मा की आर्द्रता उत्पन्न हो गई।

एक नवीन मानव-आदर्श का शिलान्यास हुआ जिसके दो अङ्ग हुए देशभक्ति और मानवीय प्रेम। उस प्रेम में एक स्वर्गीय मृदुता थी, राधाकृष्ण के दिव्य प्रेम की परिछाहीं पड़ी हुई। देशभक्ति स्वभावतः अपने आरम्भिक स्थूल रूप में आई, वेदना का जाग्रत और अन्तर व्यापी साहचर्य उसमे न था। उक्त प्रेम की झलक हमे तत्कालीन नाटको में विशेषत. मिलती है और देश-भक्ति छोटी छोटी मुक्तक कृतियों में।

तथापि लोक और परलोक, शृङ्गार और भक्ति के दोनो कुलाबे अलग ही अलग रहे। आध्यात्मिक या पारलौकिक आदर्श तो भक्ति थी और लौकिक व्यवहार उक्त शृङ्गार का पल्ला पकड़े हुए थे। यह द्विधात्मकता उस समय के काव्य मे सुस्पष्ट थी।

लौकिकता या लोक जीवन अलौकिकता से वस्तुतः भिन्न नहीं है, यह मानव काव्य की प्रथम प्रेरणा उन प्रेम कथानको में मिली। अलौकिक भक्ति मे प्राकृतिक अध्यात्म का यह पहला पुट पड़ा।

इसी समय स्वर्गीय श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी के आगमन से एक उच्च कोटि का नैतिक बुद्धिवाद हिन्दी मे प्रगरित हुआ। प्रेम और शृङ्गार नाम की वस्तुएँ

प्रकृत आध्यात्मिक रचनाओ से श्रेष्ठ समझा जाना इसी गलतफहमी का परिणाम है।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि काव्य मे परिवर्तन इन बौद्धिक वादो-प्रवादो के फलस्वरूप हुआ करता है। काव्य मे परिवर्तन मुख्यतः राष्ट्र या जाति की सामाजिक और सास्कृतिक प्रगतियो की प्रेरणा से ही होता है। यह बहिरङ्ग हेतु है तथा अन्तरङ्ग हेतु है काव्य मे नवीनता की बद्धमूल आकाक्षा। कभी-कभी कवि की निजी असाधारण अनुभूतियाँ अथवा बौद्धिक धारणाएँ भी काव्य को नूतन स्वरूप देती हैं किन्तु ऐसा कम ही अवसरो पर होता है। मुख्यतः ऐतिहासिक कारणो से काव्य नए रूप-रङ्ग धारण करता है। यह भी कह सकते हैं कि इन्हीं ऐतिहासिक कारणो से उक्त वाद-प्रवाद भी एक-दूसरे को स्थानान्तरित करके राष्ट्रीय और जातीय रङ्गमञ्चो पर आया करते है। इस प्रकार काव्य और दर्शन दोनो ही इतिहास की वस्तुएँ सिद्ध होती है। परिवर्तन काव्य का नियम बन जाता है।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं के आरम्भ मे जो दोनो (भक्ति और शृङ्गार की) ह्रासोन्मुखी काव्य-धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं उनके गतिक्रम मे परिवर्तन सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी काव्याकाश के तारक मण्डल ने किया। इन नए उन्नायको ने एक नई सुकोमल दीप्ति और वेदना की एक दिव्य छटा छा दी। रूखी रूढियों में एक वैयक्तिक आत्मा की आर्द्रता उत्पन्न हो गई।

एक नवीन मानव-आदर्श का शिलान्यास हुआ जिसके दो अङ्ग हुए देशभक्ति और मानवीय प्रेम। उस प्रेम में एक स्वर्गीय मृदुता थी, राधाकृष्ण के दिव्य प्रेम की परिछाही पड़ी हुई। देशभक्ति स्वभावतः अपने आरम्भिक स्थूल रूप मे आई, वेदना का जागृत और अन्तर व्यापी साहचर्य उसमें न था। उक्त प्रेम की झलक हमे तत्कालीन नाटको में विशेषत' मिलती है और देश-भक्ति छोटी छोटी मुक्तक कृतियो मे।

तथापि लोक और परलोक, शृङ्गार और भक्ति के दोनो कुलावे अलग ही अलग रहे। आध्यात्मिक या पारलौकिक आदर्श तो भक्ति थी और लौकिक व्यवहार उक्त शृङ्गार का पल्ला पकड़े हुए थे। यह द्विधात्मकता उस समय के काव्य मे सुस्पष्ट थी।

लौकिकता या लोक जीवन अलौकिकता से वस्तुत. भिन्न नहीं है. यह मानव काव्य की प्रथम प्रेरणा उन प्रेम कथानकों में मिली। अलौकिक भक्ति मे प्राकृतिक अध्यात्म का यह पहला पुट पड़ा।

इसी समय स्वर्गीय श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी के आगमन से एक उच्च कोटि का नैतिक बुद्धिवाद हिन्दी मे प्रसरित हुआ। प्रेम और शृङ्गार नाम की वस्तुएँ

रविगनों का आगमन, प्रणय-निवेदन, तृष्णा की जागृति और तृष्णारूप पाप का समर्थन (सौन्दर्य से कौन आकर्षित नहीं होता, किसे प्यास नहीं लगती). 'वेणी बंधन' आदि के सुन्दर वर्णना और अचानक ही रूपपरी का उजली निशानी छोड़ कर अदृश्य हो जाना—यह सारा ऊपर का वर्णन मानो आगे आने वाले 'महाविच्छेद' की प्रस्तावना बन बन कर रह जाता है।

अंचल की विरह-साधना में बड़ी ही एकनिष्ठ, सजग, विह्वलताकारी तथा जीवनमय अनुभूतियों का संग्रह है। कवि के वास्तविक विद्रोह का यहीं से आरम्भ होता है। अरमानों और साधों की अशेष आहुतियाँ' डाल कर उसने विरह-वह्नि को जगा रक्खा है। नैराश्य की तमिस्रा में जीवन पर एक दृष्टि डालने के लिए उसे इस आग का ही सहारा है। अतः उसका तमाम दर्शन इस आग की आँच से प्रज्वलित और लिखा हुआ है।

'सखी' नामक रचना में अंचल के दार्शनिक विचारों की एक झलक मिलती है। इनका एक क्रम बना कर उपस्थित करने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि वे क्रमबद्ध होकर भी उतने ही सङ्गत या असङ्गत होंगे जितना बिना क्रम के। 'आज ही, वर्तमान क्षण ही, सब कुछ है, भविष्य की क्या आशा? कल होगा इसका निश्चय क्या? (प्रेम के) नशे में उन्मत्त होना ही सुख है। वृद्धावस्था आने पर कंधों के ऊपर माथे का भार भी दूभर हो जायगा। मञ्ज़िल की परवाह न कर चलते ही रहना है। कभी अपने आप में मस्त हैं, यहाँ हमें कोई ढूँढेगा यह आशा ही व्यर्थ है। यौवन का ज्वार और मदिरा (प्रेम-तन्मयता) का ज्वार जो अभी है, फिर बहुत दिनों तक न रह सकेंगे। सब को अपनाते हुए, सबसे हृदय मिला कर, चलना ही सार है। हम चाहे किसी को न भाएँ, हमको सब भाते हैं।'

'संसार में दुःख-पीड़ा देख कर व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं। प्रेम के दीवानों ने जगत के दुःखों को ही सुख मान लिया है। अभी जीवन में कितने ही झंझा-वात (अंधड़) चलेंगे। कितने बार दीप बुझेंगे। इनकी क्या चिन्ता? हम सदा पुलकित और प्रहर्षित रहेंगे।

> 'उर में आग नयन में पानी, होंठों में मुस्कान सजा।
> हम हँसते इठलाते चलते, इतरा-इतरा बल खा-खा।
> अपनी तरणी फेंक प्रलय की लहरों में खुल खेले हम।
> आज भाग्य के उल्कापातों को हँस-हँस कर झेले हम।'

आज अस्त हो जाय वही अभिशाप अस्त रौरव पोषक,
अरे, वही दुर्दान्त महाउन्मत्त हड्डियो का शोषक।

आक्रमण के लिए ईश्वर के बराबर सस्ती और महत्वपूर्ण वस्तु मिल ही क्या सकती है—खास कर भारतवर्ष में, जहाँ कोई सघटित 'चर्च' है ही नहीं! किन्तु इससे सिद्ध होता है कि भारतीय धार्मिक इतिहास का स्वतन्त्र अध्ययन न कर किस प्रकार पश्चिम की सुनी-सुनाई पद्धति का अधानुकरण किया जा रहा है। आवश्यकता है भारतीय राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन की और तदनुसार ही काव्य की गति निर्धारित करने की, ऐसा न होने से शक्तियो का अपव्यय होता है तथा सच्ची राष्ट्रीयता के निर्माण मे अड़चन आती है। आशा है अंचल के अतिरिक्त अन्य कविगण भी इस राष्ट्रीय समस्या की ओर ध्यान देंगे। कवियो के हाथों मे राष्ट्र-निर्माण का दायित्व सदा रहा है और सदैव रहेगा—यह बात दूसरी है कि वे इस ज़िम्मेदारी से छूटने की सस्ती चेष्टा करें। किन्तु यह दूरदर्शिता नहीं, एक घातक चेष्टा ही कही जायगी।

'अपराजिता' मे अचल की अनुभूतियाँ अपेक्षा से अधिक व्यापक और बहुमुखी हो गई है। यद्यपि 'अपराजिता' आद्यन्त एक वियोग-काव्य है किन्तु वियोग के अन्तर्गत कवि की अनेकानेक अन्तर्वृत्तियो और मनोदशाओ का समारोह देखने योग्य हुआ है। इन पद्यो को पढ़ने पर यदा-कदा बाइरन और माइकेल मधुसूदनदत्त का स्मरण आता है। इसमे एक वैयक्तिक प्यास और विषण्णता है जिसके कारण यह 'उत्तर रामचरित' के स्मृति बहुल विशुद्ध करुण सगीत से भिन्न है। न इसमे 'उत्तर रामचरित' का-सा प्रकृति का प्रशस्त रगमच है। किन्तु अचल की वैयक्तिकता सर्वथा ऐकान्तिक नहीं है न उसमे कोरी कल्पना की प्रधानता है। वैयक्तिकता में जहाँ ऊपर लिखी आशकाएँ होती है वहाँ उसकी एक विशेषता भी है। बिना वैयक्तिकता के विद्रोह पनप नहीं सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि अञ्चल का विद्रोह इसी वैयक्तिक पहलू को लेकर है।

पूछा जा सकता है कि इस वैयक्तिक पहलू को लेकर विद्रोह हो कैसे सकता है? किसी आकस्मिक, दैवी या वैयक्तिक घटना से भी क्या कभी विद्रोह की सृष्टि हुई है? यदि वह हो भी तो केवल अदृष्ट या दैव के विरुद्ध ही तो होगी? विस्तीर्ण मानव-जगत से उसका क्या सम्बन्ध? इन प्रश्नो का उत्तर पाठको को 'अपराजिता' पढ़ लेने पर मिलेगा। वे देखेंगे कि सम्पूर्ण काव्य मे एक आकस्मिक घटना कितने विद्रोही भावों

आज अस्त हो जाय वही अभिशाप अस्त रौरव पोषक,
अरे, वही दुर्दान्त महाउन्मत्त हड्डियों का शोषक।

आक्रमण के लिए ईश्वर के बराबर सस्ती और महत्वपूर्ण वस्तु मिल ही क्या
सकती है—खास कर भारतवर्ष मे, जहाँ कोई सघटित 'चर्च' है ही नहीं! किन्तु इससे
सिद्ध होता है कि भारतीय धार्मिक इतिहास का स्वतन्त्र अध्ययन न कर किस प्रकार
पश्चिम की सुनी-सुनाई पद्धति का अधानुकरण किया जा रहा है। आवश्यकता है
भारतीय राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन की और तदनुसार ही काव्य की गति निर्धारित
करने की, ऐसा न होने से शक्तियो का अपव्यय होता है तथा सच्ची राष्ट्रीयता के निर्माण
मे अड़चन आती है। आशा है अचल के अतिरिक्त अन्य कविगण भी इस राष्ट्रीय
समस्या की ओर ध्यान देंगे। कवियो के हाथो में राष्ट्र-निर्माण का दायित्व सदा रहा
है और सदैव रहेगा—यह बात दूसरी है कि वे इस जिम्मेदारी से छूटने की सस्ती चेष्टा
करें। किन्तु यह दूरदर्शिता नहीं, एक घातक चेष्टा ही कही जायगी।

'अपराजिता' मे अंचल की अनुभूतियाँ अपेक्षा से अधिक व्यापक और बहुमुखी
हो गई हैं। यद्यपि 'अपराजिता' आद्यन्त एक वियोग-काव्य है किन्तु वियोग के
अन्तर्गत कवि की अनेकानेक अन्तर्वृत्तियो और मनोदशाओं का समारोह देखने योग्य
हुआ है। इन पद्यो को पढने पर यदा-कदा बाइरन और माइकेल मधुसूदनदत्त का
स्मरण आता है। इसमें एक वैयक्तिक प्यास और निरुपायता है जिसके कारण यह
'उत्तर रामचरित' के स्मृति बहुल विशुद्ध करुण सगीत से भिन्न है। न इसमें 'उत्तर
रामचरित' का-सा प्रकृति का प्रशस्त रगमच है। किन्तु अचल की वैयक्तिकता सर्वथा
ऐकान्तिक नहीं है न उसमे कोरी कल्पना की प्रधानता है। वैयक्तिकता में जहाँ ऊपर
लिखी आशकाएँ होती हैं वहाँ उसकी एक विशेषता भी है। बिना वैयक्तिकता के
विद्रोह पनप नहीं सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि अचल का विद्रोह इसी
वयक्तिक पहलू को लेकर है।

पूछा जा सकता है कि इस वैयक्तिक पहलू को लेकर विद्रोह हो कैसे सकता है?
किसी आकस्मिक, दैवी या वैयक्तिक घटना से भी क्या कभी विद्रोह की सृष्टि हुई है?
यदि वह हो भी तो केवल अदृष्ट या दैव के विरुद्ध ही तो होगी? विस्तीर्ण मानव-जगत
से उसका क्या सम्बन्ध? इन प्रश्नो का उत्तर पाठकों को 'अपराजिता' पढ़ लेने पर
मिलेगा। वे देखेंगे कि सम्पूर्ण काव्य में एक आकस्मिक घटना कितने विद्रोही भावों

शुद्धि-पत्र

प्रूफ़ देखने की अनवधानता के कारण नीचे लिखी भद्दी भूलें रह गई हैं। इन्हें पुस्तक पढ़ने के पूर्व सुधार लेना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ साधारण गल्तियाँ और हलन्त चिह्न भी छूट गये हैं, किंतु उन्हें शुद्धिपत्र में देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। विश्वास है, विज्ञ पाठक उन्हें सुधार कर ही पढ़ेंगे।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	६	सरणी	सरणि
१२	८	आशिर्वचन	आशीर्वचन
१४	२	भाषा वे	भाषा के
१५	७	शेली	शैली
१७	१०	विवृत्ति	विवृति
२१	२६	आदि	आदि है
२२	१७	कृष्णायन	कृष्णायण
२५	२१	अजन्त	अजन्ता
२५	२५	ऐषणा	एषणा
२८	२२	सदना	सदन
३१	१२	नये	नयी
३२	१६	प्राचीन	उन्होंने प्राचीन
३२	१६	प्रतुस्त	प्रस्तुत
३३	१२	कर्कषता	कर्कशता
३६	१६	श्रैङ्गारिक	श्रृङ्गारिक
३६	२६	पिष्ठपेशित	पिष्टपेषित
४१	४	हैं	है
४४	६	घनिष्ट	घनिष्ठ
४६	७	त्रणवाली	व्रण
४७	८	मेघनाद के वध	'मेघनाद वध
४७	२२	करती	करता
४८	१३	मृयमाण	म्रियमाण
५०	२४	आवृति	आवृत्ति
५०	२५	द्युतमती	द्युतिमती
५३	६	त्रुटि से विपरीत प्रकार की है	×××
५४	७	प्रविष्ठ	प्रविष्ट
५६	१७	सपर्कित	संपृक्त
५६	१८	है कि	है
६२	२	बहुविधि	बहुविध
६२	१४	सामाजनीति	समाजनीति
६५	२४	विवृत्ति	विवृति
७१	२७	असंपर्कित	असंपृक्त
७७	६	व्यैयकिक	वैयक्तिक
८३	२६	प्रवृत	प्रवृत्त
६७	१	नहीं हुआ	भी सम्बन्ध है तो हमें उनके ये विचार पढ़कर कुछ भी आश्चर्य न होना चाहिए—नहीं हुआ
१००	१४	मानवी	मानवीय